तार सप्तक

नेमिचन्द्र जैन – भारतभूषण अग्रवाल – प्रभाकर माचवे – गिरिजाकुमार माथुर – रामविलास शर्मा – 'अज्ञेय' – मुक्तिबोध

सम्पादक: 'अज्ञेय'

कम होती हैं काव्य-कृतियाँ जो स्वयं इतिहासका एक अंग बन जायें और आगेके लिए दिशा-दृष्टि दे सकें। बिना अत्युक्ति-भयके 'तार सप्तक'के लिए यह कहा जा सकता है। जो सात कवि १९४३ के प्रयोगी थे वे आजके सन्दर्भ हैं, और उनका यह काव्य-संकलन आधुनिक हिन्दी काव्यके विकास-में एक मीलका पत्थर, आलोकशिखा।

प्रस्तुत संस्करण इस कृतिका केवल इसलिए प्रकाशित नहीं किया जा रहा है कि एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ उपलभ्य हो जाये, बल्कि विशेषकर इसलिए कि परवर्ती काव्य-प्रगतिको समझनेके लिए इसका सामने रहना अनिवार्य है। लगभग ढाई दशक पूर्व कवि अपनेको अपने समयसे किस नये ढंगसे कैसे बाँध रहा था और वह सम्बन्ध किस प्रकार विभिन्न रूप-भंगिमाएँ ग्रहण करता कहाँ पहुँचा है, इसके यथार्थ बोधकी यह कृति इकाई भी है दहाई भी।

[शेष दूसरे फ़्लैपपर]

तार सप्तक

अज्ञेय-द्वारा
संकलित
सम्पादित

5484

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

● तार सप्तक

गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, 'अज्ञेय' (१९४३)

● दूसरा सप्तक

भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्त माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती। (१९५१)

● तीसरा सप्तक

प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवरनारायण, विजयदेवनारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना। (१९५९)

[भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन]

तार सप्तक

[गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, 'अज्ञेय']

*

संकलनकर्ता
एवं सम्पादक
'अज्ञेय'

डा. डिल्ली रमण रेड्डी
ल्याणी रेड्डी स्मारक

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : २२६

सम्पादक एवं नियामक

लक्ष्मीचन्द्र जैन

चतुर्थ संस्करण : जनवरी १६७२

मूल्य : बारह रुपये

कॉपीराइट १६६६
संकलित कवियों और सम्पादकों की ओर से
भारतीय ज्ञानपीठ-द्वारा सुरक्षित

तारसप्तक

(कविता)

'अज्ञेय'

डा. [illegible] रेड्डी
[illegible] रेड्डी स्मारक
[illegible]

©

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

३६२०/२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

o o o o

Published by :

BHARATIYA JNANPITH

3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6

Price Rs 12.00

TAAR SAPTAK : POEMS : EDITED & COMPILED BY
'AJNEYA'

परिदृष्टि : प्रतिदृष्टि

[दूसरे संस्करण की भूमिका]

'तार सप्तक' का प्रकाशन सन् १९४३ में हुआ था। दूसरे संस्करण की भूमिका सन् १९६३ में लिखी जा रही है। बीस वर्ष की एक पीढ़ी मानी जाती है। 'वयमेव याताः' के अनिवार्य नियम के अधीन 'सप्तक' के सहयोगी, जो १९४३ के प्रयोगी थे, सन् १९६३ के सन्दर्भ हो गये हैं। दिक्कालजीवी को इसे नियति मान कर ग्रहण करना चाहिए, पर प्रयोगशील कवि के बुनियादी पैंतरे में ही कुछ ऐसी बात थी कि अपने को इस नये रूप में स्वीकार करना उस के लिए कठिन हो। बूढ़े सभी होते हैं, लेकिन बुढ़ापा किस पर कैसा बैठता है यह इस पर निर्भर रहता है कि उस का अपने जीवन से, अपने अतीत और वर्तमान से (और अपने भविष्य से भी क्यों नहीं ?) कैसा सम्बन्ध रहता है। हमारी धारणा है कि 'तार सप्तक' ने जिन विविध नयी प्रवृत्तियों को संकेतित किया था उन में एक यह भी रही कि कवि का युग-सम्बन्ध सदा के लिए बदल गया था। इस बात को ठीक ऐसे ही सब कवियों ने सचेत रूप से अनुभव किया था, यह कहना झूठ होगा; बल्कि अधिक सम्भव यही है कि एक स्पष्ट, सुचिन्तित विचार के रूप में यह बात किसी भी कवि के सामने न आयी हो। लेकिन इतना असन्दिग्ध है कि सभी कवि अपने को अपने

समय से एक नये ढंग से बाँध रहे थे। 'उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा' वाला पैंतरा न किसी कवि के लिए सम्भव रहा था, न किसी को स्वीकार्य था। सभी सब से पहले समाजजीवी मानव प्राणी थे और 'समानधर्मा' का अर्थ उन के लिए 'कवि-धर्मा' से पहले मानवधर्मा था। यह भेद किया जा सकता है कि कुछ के लिए आधुनिकधर्मा होने का आग्रह पहले था और अपनी मानव-धर्मिता को वह आधुनिकता से अलग नहीं देख सकते थे, और दूसरे कुछ ऐसे थे जिन के लिए आधुनिकता मानव-धर्मिता का एक आनुषंगिक पहलू अथवा परिणाम था।

'सप्तक' के कवियों का विकास अपनी-अपनी अलग दिशा में हुआ है। सृजनशील प्रतिभा का धर्म है कि वह व्यक्तित्व ओढ़ती है। सृष्टियाँ जितनी भिन्न होती हैं स्रष्टा उस से कुछ कम विशिष्ट नहीं होते, बल्कि उन के व्यक्तित्व की विशिष्टताएँ ही उन की रचना में प्रतिबिम्बित होती हैं। यह बात उन पर भी लागू होती है जिन की रचना प्रबल वैचारिक आग्रह लिये रहती है जब तक कि वह रचना है, निरा वैचारिक आग्रह नहीं है। कोरे वैचारिक आग्रह में अवश्य ऐसी एकरूपता हो सकती है कि उस में व्यक्तित्वों को पहचानना कठिन हो जाये। जैसे शिल्पाश्रयी काव्य पर रीति हावी हो सकती है, वैसे ही मताग्रह पर भी रीति हावी हो सकती है। 'सप्तक' के कवियों के साथ ऐसा नहीं हुआ, सम्पादक की दृष्टि में यह उन की अलग-अलग सफलता (या कि स्वस्थता) का प्रमाण है। स्वयं कवियों की राय इस से भिन्न भी हो सकती है—वे जानें।

इन बीस वर्षों में सातों कवियों की परस्पर अवस्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया है। तब की सम्भावनाएँ अब की उपलब्धियों में परिणत हो गयी हैं—सभी बोधसत्त्व अब बुद्ध हो गये हैं। पर इन सात नये ध्यानी बुद्धों के परस्पर सम्बन्धों में विशेष अन्तर नहीं आया है। अब भी उन के बारे में उतनी ही सचाई के साथ कहा जा सकता है कि "उन में मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उन की राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उन का आपस

में मतभेद है।" और यह बात भी उतनी ही सच है कि "वे सब परस्पर एक दूसरे पर, दूसरे की रुचियों, कृतियों और आशाओं-विश्वासों पर और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं।" (सिवा इस के कि इन पंक्तियों को लिखते समय सम्पादक को जहाँ तक ज्ञान है कुत्ता किसी कवि के पास नहीं है, और हँसी की पहले की सहजता में कभी कुछ व्यंग्य या विद्रूप का भाव भी आ जाता होगा!)।

ऐसी परिस्थिति में ऐसा बहुत कम है जो निरपवाद रूप से सभी कवियों के बारे में कहा जा सकता है। ये मन के इतने भिन्न हैं कि सब को किसी एक सूत्र में गूँथने का प्रयास व्यर्थ ही होगा। कदाचित् एक बात—मात्रा-भेद की गुंजाइश रख कर—सब के बारे में कही जा सकती है। सभी चकित हैं कि 'तार सप्तक' ने समकालीन काव्य-इतिहास में अपना स्थान बना लिया है। प्रायः सभी ने यह स्वीकार भी कर लिया है। अपने कार्य का या प्रगति का, मूल्यांकन जो भी जैसा भी कर रहा हो, जिस की वर्तमान प्रवृत्ति जो हो, सभी ने यह स्थिति लगभग स्वीकार कर ली है कि उन्हें नगर के चौक में खम्भे से, या मील के पत्थर से, बाँध कर नमूना बनाया जाये: "यह देखो और इस से शिक्षा ग्रहण करो!" कम से कम एक कवि का मुखर भाव ऐसा है, और कदाचित् दूसरों के मन में भी अव्यक्त रूप से हो, कि अच्छा होता अगर मान लिया जा सकता कि वह 'तार सप्तक' में संग्रहीत था ही नहीं। इतिहास अपने चरित्रों या कठपुतलों को इस की स्वतन्त्रता नहीं देता कि वह स्वयं अपने को 'न हुआ' मान लें। फिर भी मन का ऐसा भाव लक्ष्य करने लायक़ और नहीं तो इस लिए भी है कि वह परवर्ती साहित्य पर एक मन्तव्य भी तो है ही—समूचे साहित्य पर नहीं तो कम से कम 'सप्तक' के अन्य कवियों की कृतियों पर (और उस से प्रभावित दूसरे लेखन पर) तो अवश्य ही। असम्भव नहीं कि संकलित कवियों को अब इस प्रकार एक दूसरे से सम्पृक्त हो कर लोगों के सामने उपस्थित होना कुछ अजब या असमंजसकारी लगता हो। लेकिन ऐसा है भी, तो उस असमंजस के बावजूद वे इस सम्पर्क को सह लेने को तैयार हो गये हैं इसे सम्पादक अपना सौभाग्य मानता है।

अपनी ओर से वह यह भी कहना चाहता है कि स्वयं उसे इस सम्पृक्ति से कोई संकोच नहीं है। परवर्ती कुछ प्रवृत्तियाँ उसे हीन अथवा आपत्तिजनक भी जान पड़ती हैं, और निस्सन्देह इन में से कुछ का सूत्र 'तार सप्तक' से जोड़ा जा सकता है या जोड़ दिया जायेगा; तथापि, सम्पादक की धारणा है कि 'तार सप्तक' ने अपने प्रकाशन का औचित्य प्रमाणित कर लिया। उस का पुनर्मुद्रण केवल एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ को उपलभ्य बनाने के लिए नहीं, बल्कि इस लिए भी संगत है कि परवर्ती काव्य-प्रगति को समझने के लिए इस का पढ़ना आवश्यक है। इन सात कवियों का एकत्रित होना अगर केवल संयोग भी था तो भी वह ऐसा ऐतिहासिक संयोग हुआ जिस का प्रभाव परवर्ती काव्य-विकास में दूर तक व्याप्त है।

इसी समकालीन अर्थवत्ता की पुष्टि के लिए प्रस्तुत संस्करण को केवल पुनर्मुद्रण तक सीमित न रख कर नया संवर्द्धित रूप देने का प्रयत्न किया गया है। 'तार सप्तक' के ऐतिहासिक रूप की रक्षा करते हुए जहाँ पहले की सब सामग्री—काव्य और वक्तव्य—अविकल रूप से दी जा रही है, वहाँ प्रत्येक कवि से उस की परवर्ती प्रवृत्तियों पर भी कुछ विचार प्राप्त किये गये हैं। सम्पादक का विश्वास है कि यह प्रत्यवलोकन प्रत्येक कवि के कृतित्व को समझने के लिए उपयोगी होगा और साथ ही 'तार सप्तक' के पहले प्रकाशन से अब तक के काव्य-विकास पर भी नया प्रकाश डालेगा। एक पीढ़ी का अन्तराल पार करने के लिए प्रत्येक कवि को कम से कम एक-एक नयी रचना भी दे दी गयी है। इसी नयी सामग्री को प्राप्त करने के प्रयत्न में 'सप्तक' इतने वर्षों तक अनुपलभ्य रहा : जिन के देर करने का डर था उन से सहयोग तुरत मिला; जिन की अनुकूलता का भरोसा था उन्होंने ही सब से देर की—आलस्य या उदासीनता के कारण भी, असमंजस के कारण भी, और शायद अनभिव्यक्त आक्रोश के कारण भी : 'जो पास रहे वे ही तो सब से दूर रहे' सम्पादक ने वह हठधर्मिता (बल्कि बेहयाई !) ओढ़ी होती जो पत्रक़ारिता (और सम्पादन) धर्म का अंग है, तो 'सप्तक' का पुनर्मुद्रण कभी न हो पाता : यह जहाँ अपने परिश्रम का दावा है, वहाँ अपनी हीनतर स्थिति का स्वीकार भी है।

पुस्तक के बहिरंग के बारे में अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं है। पहले संस्करण में जो आदर्शवादिता झलकती थी, उस की छाया कम से कम सम्पादक पर अब भी है, किन्तु काव्य-प्रकाशन के व्यावहारिक पहलू पर नया विचार करने के लिए अनुभव ने सभी को बाध्य किया है। पहले संस्करण से 'उपलब्धि' के नाम पर कवियों को केवल पुस्तक की कुछ प्रतियाँ ही मिलीं; बाक़ी जो कुछ उपलब्धि हुई वह भौतिक नहीं थी! 'सम्भाव्य आय को इसी प्रकार के दूसरे संकलन में लगाने' का विचार भी उत्तम होते हुए भी वर्तमान परिस्थिति में अनावश्यक हो गया है। रूप-सज्जा के बारे में भी स्वीकार करना होगा कि नये संस्करण पर परवर्ती 'सप्तकों' का प्रभाव पड़ा है। जो अतीत की अनुरूपता के प्रति विद्रोह करते हैं, वे प्रायः पाते हैं कि उन्होंने भावी की अनुरूपता पहले से स्वीकार कर ली थी! विद्रोह की ऐसी विडम्बना कर सकना इतिहास के उन बुनियादी अधिकारों में से है जिस का वह बड़े निर्ममत्व से उपयोग करता है। नये संस्करण से उपलब्धि कुछ तो होगी, ऐसी आशा की जा सकती है। उस का उपयोग कौन कैसे करेगा यह योजनाधीन न हो कर कवियों के विकल्प पर छोड़ दिया गया। वे चाहें तो उसे 'तार सप्तक' का प्रभाव मिटाने में या उस के संसर्ग की छाप धो डालने में भी लगा सकते हैं!

—'अज्ञेय'

विवृति और पुरावृत्ति

प्रथम संस्करण की भूमिका

'तार सप्तक' में सात युवक कवियों (अथवा कवि-युवकों) की रचनाएँ हैं। ये रचनाएँ कैसे एक जगह संग्रहीत हुईं, इस का एक इतिहास है। कविता या संग्रह के विषय में कुछ कहने से पहले उस इतिहास के विषय में जान लेना उपयोगी होगा।

दो वर्ष हुए, जब दिल्ली में 'अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन' की आयोजना की गयी थी। उस समय कुछ उत्साही बन्धुओं ने विचार किया कि छोटे-छोटे फुटकर संग्रह छापने की बजाय एक संयुक्त संग्रह छापा जाये, क्योंकि छोटे-छोटे संग्रहों की पहले तो छपाई एक समस्या होती है, फिर छप कर भी वे सागर में एक बूँद से खो जाते हैं। इन पंक्तियों का लेखक 'योजना-विश्वासी' के नाम से पहले ही बदनाम था, अतः यह नयी योजना तत्काल उस के पास पहुँची, और उस ने अपने नाम ('बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा !') के अनुसार उसे स्वीकार कर लिया।

आरम्भ में योजना का क्या रूप था, और किन-किन कवियों की बात उस समय सोची गयी थी, यह अब प्रसंग की बात नहीं रही। किन्तु यह सिद्धान्त रूप से मान लिया गया था कि योजना का मूल आधार सहयोग होगा, अर्थात् उस में भाग लेने वाला प्रत्येक कवि पुस्तक का साझी होगा। चन्दा कर के इतना धन उगाहा जायेगा कि काग़ज़ का मूल्य चुकाया जा सके; छपाई के लिए किसी प्रेस का सहयोग माँगा जायेगा जो बिक्री की प्रतीक्षा करे या चुकाई में छपी हुई प्रतियाँ ले ले ! दूसरा मूल सिद्धान्त यह था कि संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं—

जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।

इस आधार पर संग्रह को व्यावहारिक रूप देने का दायित्व मेरे सिर पर डाला गया।

'तार सप्तक' का वास्तविक इतिहास यहीं से आरम्भ होता है; किन्तु जब कह चुका हूँ कि इस की बुनियाद सहयोग पर खड़ी हुई तब उस की कमी की शिकायत करना उचित नहीं होगा। वह हम लोगों की आपस की बात है—पाठक के लिए सहयोग का इतना प्रमाण काफ़ी है कि पुस्तक छप कर उस के सामने है!

अनेक परिवर्तनों के बाद जिन सात कवियों की रचनाएँ देने का निश्चय हुआ, उन से हस्त-लिपियाँ प्राप्त करते-करते साल भर बीत गया; फिर पुस्तक के प्रेस में दिये जाने पर प्रेस में गड़बड़ हुई और मुद्रक महोदय काग़ज़ भी हज़म कर गये। साथ ही आधी पाण्डुलिपि रेलगाड़ी में खो गयी, और संकोचवश इस की सूचना भी किसी को नहीं दी जा सकी।

कुछ महीनों बाद जब काग़ज़ खरीदने के साधन फिर जुटने की आशा हुई तब फिर हस्त-लिपियों का संग्रह करने के प्रयत्न आरम्भ हुए, और छह महीनों की दौड़-धूप के बाद पुस्तक फिर प्रेस में गयी। अब छप कर वह पाठक के सामने आ रही है। इस की बिक्री से जो आमदनी होगी, वह पुनः इसी प्रकार के किसी प्रकाशन में लगायी जायेगी, यही सहयोग-योजना का उद्देश्य था—वह प्रकाशन चाहे काव्य हो, चाहे और कुछ। पुस्तक का दाम भी इतना रखा गया है कि बिक्री से लगभग उतनी ही आय हो जितनी कि पूँजी उस में लगी है, ताकि दूसरे ग्रन्थ की व्यवस्था हो सके।

यह तो हुआ प्रकाशन का इतिहास। अब कुछ उस के अन्तरंग के विषय में भी कहूँ।

'तार सप्तक' में सात कवि संगृहीत हैं। सातों एक दूसरे के परिचित हैं—बिना इस के इस ढंग का सहयोग कैसे होता? किन्तु इस से यह परिणाम न निकाला जाये कि वे कविता के किसी एक 'स्कूल' के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं। बल्कि उन के तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी। उन में मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों

पर उन की राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्यवस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उन का आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे समान रूप से स्वीकार नहीं करते जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता, इत्यादि। वे सब परस्पर एक दूसरे पर, एक दूसरे की रुचियों-कृतियों और आशाओं-विश्वासों पर, एक दूसरे की जीवन-परिपाटी पर, और यहाँ तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं! 'तार सप्तक' का यह संस्करण बहुत बड़ा नहीं है, अतः आशा की जा सकती है कि उस के पाठक सभी न्यूनाधिक मात्रा में एकाधिक कवि से परिचित होंगे; तब वे जानेंगे कि 'तार सप्तक' किसी गुट का प्रकाशन नहीं है क्योंकि संगृहीत सात कवियों के साढ़े-सात अलग-अलर्ग गुट हैं उन के साढ़े-सात व्यक्तित्व—साढ़े-सात यों कि एक को अपने कवि-व्यक्तित्व के ऊपर संकलनकर्ता का आधा छद्म-व्यक्तित्व और लादना पड़ा है!

ऐसा होते हुए भी वे एकत्र संगृहीत हैं, इस का कारण पहले बताया जा चुका है। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। इस का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने हैं, या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढ़ि से अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाक़ी सब घास छीलने वाले, वैसा दावा यहाँ कदापि नहीं; दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं। ठीक यह सप्तक क्यों एकत्र हुआ, इस का उत्तर यह है कि परिचित और सहकार-योजना ने इसे ही सम्भव बनाया। इस नाते तीन-चार और नाम भी सामने आये थे, पर उन में वह प्रयोगशीलता नहीं थी जिसे कसौटी मान लिया गया था, यद्यपि संग्रह पर उन का भी नाम होने से उस की प्रतिष्ठा बढ़ती ही, घटती नहीं। संगृहीत कवियों में से ऐसा कोई भी नहीं है जिस की कविता केवल उस के नाम के सहारे खड़ी हो सके। सभी इस के लिए तैयार हैं कि अभी कसौटी हो, क्योंकि सभी अभी उस परमतत्त्व की शोध में ही लगे हैं जिसे पा लेने पर कसौटी की ज़रूरत नहीं रहती, बल्कि जो कसौटी की ही कसौटी हो जाता है।

संग्रह के बहिरंग के बारे में भी कुछ कहना आवश्यक है। इधर

कविता प्रायः चारों ओर बड़े-बड़े हाशिये दे कर सुन्दर सजावट के साथ छपती रही है। अगर कविता को शब्दों की मीनाकारी ही मान लिया जाये तब यह संगत भी है। तार सप्तक की कविता वैसी जड़ाऊ कविता नहीं है; वह वैसी हो भी नहीं सकती। ज़माना था जब तलवारें और तोपें भी जड़ाऊ होती थीं; पर अब गहने भी धातु को साँचों में ढाल कर बनाये जाते हैं और हीरे भी तप्त धातु की सिकुड़न के दबाव से बँधे हुए कणों से! तार सप्तक में रूप-सज्जा को गौण मान कर अधिक से अधिक सामग्री देने का उद्योग किया गया। इसे पाठक के प्रति ही नहीं, लेखक के प्रति भी कर्तव्य समझा गया है, क्योंकि जो कोई भी जनता के सामने आता है वह अन्ततः दावेदार है, और जब दावेदार है तो अपने पक्ष के लिए उसे पर्याप्त सामग्री ले कर आना चाहिए। योजना थी कि प्रत्येक कवि साधारण छापे का एक फ़ार्म दे (अथवा) लेगा; इस बड़े आकार में जितनी सामग्री प्रत्येक की है, वह एक फ़ार्म से कम नहीं है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए मानना पड़ेगा कि तार सप्तक में उतने ही दामों की तीन पुस्तकों की सामग्री सस्ते और सुलभ रूप में दी जा रही है।

और यदि पाठक सोचे कि ऐसा प्रचार प्रकाशकोचित है, सम्पादकोचित नहीं, तो उस का उत्तर स्पष्ट है कि इस सहोद्योगी योजना में तार सप्तक के लेखक ही उस के प्रकाशक और सम्पादक भी हैं, और अपने-अपने जीवनीकार भी और प्रवक्ता भी। और (यह धृष्टता नहीं है, केवल अपने कर्म का फल भोगने की तत्परता है!) वे सभी इस के लिए भी तैयार हैं कि तार सप्तक के पाठक वे ही रह जायें! क्योंकि जो प्रयोग करता है, उसे अन्वेषित विषय का मोह नहीं होना चाहिए।

कवियों का अनुक्रम किसी हद तक आकस्मिक है; जहाँ वह इच्छित है वहाँ उस का उद्देश्य यही रहा है कि कुल सामग्री को सर्वाधिक प्रभावोत्पादक ढंग से उपस्थित किया जाये। संकलनकर्ता अन्त में आता है क्योंकि वह संकलनकर्ता है। अनुक्रम मात्र से कवियों के पद-गौरव के बारे में कोई परिणाम निकालना, या उस विषय में संकलनकर्ता की सम्पति की खोज लगाना, मूर्खता होगी।

—*'अज्ञेय'*

तार सप्तक

१. गजानन मुक्तिबोध

वक्तव्य	५
आत्मा के मित्र मेरे	९
दूर तारा	१२
खोल आँखें	१४
अशक्त	१६
मेरे अन्तर	१८
मृत्यु और कवि	२०
नूतन अहं	२१
विहार	२३
पूँजीवादी समाज के प्रति	२५
नाश देवता	२६
सृजन-क्षण	२७
अन्तर्दर्शन	३०
आत्म-संवाद	३१
व्यक्तित्व और खँडहर	३३
मैं उन का ही होता	३५
हे महान् !	३६
पुनश्च	३७
एक आत्म-वक्तव्य	३९

२. नेमिचन्द्र

वक्तव्य	४९
कवि गाता है	५३
डूबती सन्ध्या	५६
अनजाने चुपचाप	५८
इस क्षण में	६१
धूल भरी दोपहरी	६३
आगे गहन अँधेरा है	६४
क्या भाया ?	६५
ज़िन्दगी की राह	६६
व्यर्थ !	६९
उन्मुक्त	७१
पुनश्च	७३
आज फिर जब तुम से सामना हुआ	७८

३. भारतभूषण अग्रवाल

वक्तव्य	८५
अपने कवि से	८८
जीवन-धारा	९०
सीमाएँ : आत्मा-स्वीकृति	९३
मंसूरी के प्रति	९५
अहिंसा	९७
फूटा प्रभात....	९८
प्रत्यावर्तन	१००
मिलन	१०१
बिदा वेला_	१०२
चलते-चलते	१०३
प्रत्यूष वेला	१०४
जागते रहो !	१०५
पथ-हीन	१०६
पुनश्च	१०७

आने वालों से एक सवाल १११
मैं, और मेरा पिट्ठू ११४
दूँगा मैं ११६

४. प्रभाकर माचवे

वक्तव्य १२३
वसन्तागम १२८
मेघ-मल्लार १३०
सॉनेट १३२
यहाँ मुक्ति की प्रबल चाह १३३
चार पंक्तियाँ १३३
चार और पंक्तियाँ १३३
राही से १३४
प्रेम : एक परिभाषा १३५
गेहूँ की सोच १३६
वृष्टि १३८
रेखा-चित्र १४०
देशोद्धारकों से १४१
वह एक १४२
निम्न मध्य-वर्ग १४४
'द्रा व्द्रास्तव्युते सोवित्स्की सोयूज़ !' १४६
कविता क्या है ? १४७
छलना १४७
बादल बरसै मूसलधार १४८
काशी के घाट पर १४९
अश्वत्थ १५१
मैं और खाली चा की प्याली १५२
बीसवों सदी १५४
कापालिक १५६
पुनश्च १५८
पालतू १६०

माता की मृत्यु पर १६१
डरू संस्कृति १६४

५. गिरिजाकुमार माथुर

वक्तव्य १६८
आज हैं केसर रंग रँगे वन १७१
रुक कर जाती हुई रात १७२
चूड़ी का टुकड़ा १७३
रेडियम की छाया १७४
कुतुब के खँडहर– १७५
पानी भरे हुए बादल १७६
क्वाँर की दोपहरी १७७
भीगा दिन १७९
एसोसिएशन १८०
विजय दशमी १८२
अधूरा गीत १८४
बुद्ध १८७
पुनश्च १८९
नया कवि १९९
देह की दूरियाँ २०१
बरकुल : चिलका झील २०२
दो पाटों की दुनिया २०४
असिद्ध की व्यथा २०६
पृथ्वी-कल्प २०८
गीतिका २१६
छाया मत छूना २१८
निर्वासन २१९

६. रामविलास शर्मा

वक्तव्य २२४
कार्य-क्षेत्र २२७

कवि	२२८
चाँदनी	२३१
प्रत्यूष के पूर्व	२३२
कतकी	२३३
शारदीया	२३४
सिलहार	२३५
दिवा-स्वप्न	२३६
दाराशिकोह	२३८
गुरुदेव की पुण्यभूमि	२४१
जल्लाद की मौत	२४४
सत्यं शिवं सुन्दरम्	२४६
हड्डियों का ताप	२४९
किसान कवि और उस का पुत्र	२५१
समुद्र के किनारे	२५४
विश्व-शान्ति	२५६
कलियुग	२५८
परिणति	२५९
तूफ़ान के समय	२६०
पुनश्च	२६१
केरल : एक दृश्य	२६३

७. 'अज्ञेय'

वक्तव्य	२६९
जनाह्वान	२७४
सावन-मेघ	२७६
उषःकाल का भव्य शान्ति	२७८
शिशिर की राका-निशा	२८०
रात होते—प्रात होते	२८२
जैसे तुझे स्वीकार हो	२८३
जयतु हे कंटक चिरन्तन !	२८४

चार का गजर	२८६
वर्ग-भावना-सटीक	२८८
भादों की उमस	२८९
चेहरा उदास	२९०
चरण पर धर चरण	२९२
मुक्ति	२९३
आज मैं पहचानता हूँ	२९४
बाहु मेरे रुके रहे	२९५
किस ने देखा चाँद	२९८
बदली के बाद	२९९
पुनश्च	३००
उषा-दर्शन	३०५
मैं वहाँ हूँ	३०६
सवेरे उठा तो	३१०

१

गजानन मुक्तिबोध

[मुक्तिबोध, गजानन माधव : जन्म नवम्बर १९१७ में ग्वालियर के एक क़सबे में हुआ, जहाँ सौ साल पहले कवि के पूर्वज आ बसे थे। पिता के पुलिस सब-इन्स्पेक्टर होने के कारण और बार-बार बदली होने के कारण मुक्तिबोध की पढ़ाई का सिलसिला टूटता-जुड़ता रहा; फलतः १९३० में उज्जैन में मिडिल परीक्षा में असफलता मिली जिसे कवि अपने जीवन की "पहली महत्त्वपूर्ण घटना" मानता है। उस के बाद पढ़ाई का सिलसिला ठीक चला; और साथ ही जीवन के प्रति नयी संवेदना और जागरूकता बढ़ने लगी। सन् १९३५ में (माधव कॉलेज, उज्जैन में) साहित्य-लेखन आरम्भ हुआ। सन् १९३८ में बी० ए० पास किया; १९३९ में विवाह; उस के बाद "निम्न-मध्यवर्गीय निष्क्रिय मास्टरी, जो अब तक है।"

"मालवे के एक औद्योगिक केन्द्र में जिस में बड़े शहरों के गुणों को छोड़ कर उस की सब विशेषताएँ हैं, यह बन्दा रोज़ ज़िन्दा रहता है। नियमानुकूल बारह बजे दोपहर स्कूल जाता है; लौटती बार अपने पैरों से अपनी सिगरेट पर ज़्यादा भरोसा रखता हुआ घर की ओर चल पड़ता है। साँझ सात बजे पान वाले की दुकान पर नित्य मिलता है। उज्जैन के फ़्रीगंज में कहीं भी इस व्यक्ति को मटरगश्ती करते हुए आप पा सकते हैं।"

१९४३ से—

"नौकरियाँ पकड़ता-छोड़ता रहा। शिक्षक, पत्रकार, पुनः शिक्षक, सरकारी और ग़ैर-सरकारी नौकरियाँ। निम्न मध्यवर्गीय जीवन, बाल-बच्चे, दवा-दारू, जन्म-मृत्यु।"

जीवन की स्मरणीय घटनाओं में विशेष उल्लेखनीय है 'भारत : इतिहास और संस्कृति' नामक पुस्तक का प्रकाशन और उस के परिणाम।

यह पुस्तक मध्यप्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग-द्वारा पाठ्य-पुस्तक भी स्वीकार हुई और उसी सरकार-द्वारा लोक सुरक्षा क़ानून के अधीन अवैध भी घोषित हुई। उस के विरोध में आन्दोलन हुए, परचेबाज़ी हुई, कुछ नगरों में पुस्तक की होली जलायी गयी, सम्प्रदायवादी तत्त्वों ने उग्र विरोध किया। "किसी लेखक के लिए उस की पुस्तक का ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया जाना एक विलक्षण अनुभव होता है—प्रेम के अनुभव जैसा ही तीव्र और अविस्मरणीय!"

'कामायनी : एक पुनर्विचार' प्रकाशित हो चुकी है। 'नयी कविता का आत्म-संघर्ष' नामक निबन्ध संग्रह प्रकाशक के पास है।

"मेरा मन नव-क्लासिकवाद की तरफ़ दौड़ रहा है, अर्थात् ऐसी काव्य-रचना की ओर जिस का कथ्य व्यापक हो, जिस में जीवन के विश्लेषित तथ्यों और उन के संश्लिष्ट निष्कर्षों का चित्रण हो। पता नहीं यह मुझ से कहाँ तक सधेगा।"

११ सितम्बर १९६४ को लम्बी बीमारी के बाद मुक्तिबोध का निधन हो गया। कविता-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', निबन्ध-संग्रह 'एक साहित्यिक की डायरी' मरणोत्तर प्रकाशित हुए।]

वक्तव्य

मालवे के विस्तीर्ण मनोहर मैदानों में से घूमती हुई क्षिप्रा की रक्त-भव्य साँझें और विविध-रूप वृक्षों की छायाएँ मेरे किशोर कवि की आद्य सौन्दर्य-प्रेरणाएँ थीं। उज्जैन नगर के बाहर का यह विस्तीर्ण निसर्गलोक उस व्यक्ति के लिए जिस की मनोरचना में रंगीन आवेग ही प्राथमिक है, अत्यन्त आत्मीय था।

उस के बाद इन्दौर में प्रथमतः ही मुझे अनुभव हुआ कि यह सौन्दर्य ही मेरे काव्य का विषय हो सकता है। इस के पहले उज्जैन में स्व० रमाशंकर शुक्ल के स्कूल की कविताएँ—जो माखनलाल स्कूल की निकली हुई शाखा थी—मुझे प्रभावित करती रहीं, जिन की विशेषता थी बात को सीधा न रख कर उसे केवल सूचित करना। तर्क यह था कि वह अधिक प्रबल हो कर आती है। परिणाम यह था कि अभिव्यंजना उलझी हुई प्रतीत होती थी। काव्य का विषय भी मूलतः विरह-जन्य करुणा और जीवन-दर्शन ही था। मित्र कहते हैं कि उन का प्रभाव मुझ पर से अब तक नहीं गया है। इन्दौर में मित्रों के सहयोग और सहायता से मैं अपने आन्तरिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और पुरानी उलझन-भरी अभिव्यक्ति और अमूर्त करुणा छोड़ कर नवीन सौन्दर्य-क्षेत्र के प्रति जागरूक हुआ। यह मेरी प्रथम आत्मचेतना थी।

उन दिनों भी एक मानसिक संघर्ष था। एक ओर हिन्दी का यह नवीन सौन्दर्य-काव्य था, तो दूसरी ओर मेरे बाल-मन पर मराठी साहित्य के अधिक मानवतामय उपन्यास-लोक का भी सुकुमार परन्तु तीव्र प्रभाव था। तॉल्स्तॉय के मानवीय समस्या-सम्बन्धी उपन्यास—या

महादेवी वर्मा ? समय का प्रभाव कहिए या वय की माँग, या दोनों, मैं ने हिन्दी के सौन्दर्य-लोक को ही अपना क्षेत्र चुना; और मन की दूसरी माँग वैसे ही पीछे रह गयी जैसे अपने आत्मीय राह में पीछे रह कर भी साथ चले चलते हैं।

मेरे बाल-मन की पहली भूख सौन्दर्य, और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुःख—इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी। इस का स्पष्ट वैज्ञानिक समाधान मुझे किसी से न मिला। परिणाम था कि इन अनेक आन्तरिक द्वन्द्वों के कारण एक ही काव्य-विषय नहीं रह सका। जीवन के एक ही बाज़ू को ले कर मैं कोई सर्वाश्लेषी दर्शन की मीनार खड़ी न कर सका।

साथ ही जिज्ञासा के विस्तार के कारण कथा की ओर मेरा प्रवृत्ति बढ़ गयी। इस का द्वन्द्व मन में पहले ही से था। कहानी-लेखन आरम्भ करते ही मुझे अनुभव हुआ कि कथा-तत्त्व मेरे उतना ही समीप है जितना काव्य। परन्तु कहानियाँ मैं बहुत ही थोड़ी लिखता था, अब भी कम लिखता हूँ। परिणामतः काव्य को मैं उतना ही समीप रखने लगा जितना कि स्पन्दन; इसी लिए काव्य को व्यापक करने की, अपनी जीवन-सीमा से उस की सीमा को मिला देने की चाह दुर्निवार होने लगी। और मेरे काव्य का प्रवाह बदला।

दूसरी ओर, दार्शनिक प्रवृत्ति—जीवन और जगत् के द्वन्द्व—जीवन के आन्तरिक द्वन्द्व—इन सब को सुलझाने की, और एक अनुभव-सिद्ध व्यवस्थित तत्त्व-प्रणाली अथवा जीवन-दर्शन आत्मसात् कर लेने की दुर्दम प्यास मन में हमेशा रहा करती। आगे चल कर मेरी काव्य की गति को निश्चित करने वाला सशक्त कारण यही प्रवृत्ति थी। सन् १९३५ में काव्य आरम्भ किया था, सन् १९३६ से १९३८ तक काव्य के पीछे कहानी चलती रही। १९३८ से १९४२ तक के पाँच साल मानसिक संघर्ष और बर्गसोनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे। आन्तरिक विनष्ट शान्ति के और शारीरिक ध्वंस के इस समय में मेरा व्यक्तिवाद कवच की भाँति काम करता था। बर्गसों की स्वतन्त्र क्रियमाण 'जीवन-शक्ति' (elan vital) के प्रति मेरी आस्था बढ़ गयी थी। परिणामतः काव्य और कहानी नये रूप प्राप्त करते हुए भी अपने ही आस-पास घूमते थे, उन की गति ऊर्ध्वमुखी न थी।

सन् १९४२ के प्रथम और अन्तिम चरण में एक ऐसी विरोधी शक्ति के सम्मुख आया, जिस की प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुत कुछ सीखना था। शुजाल पुर की अर्ध-नागरिक रम्य एकस्वरता के वातावरण में मेरा वातावरण भी—जो मेरी आन्तरिक चीज़ है—पनपता था। यहाँ लगभग एक साल में मैं ने पाँच साल का पुराना जडत्व निकालने की सफल-असफल कोशिश की। इस उद्योग के लिए प्रेरणा, विवेक और शान्ति मैं ने एक ऐसी जगह से पायी, जिसे पहले मैं विरोधी शक्ति मानता था।

क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ। शुजाल पुर में पहले-पहल मैं ने कथातत्त्व के सम्बन्ध में आत्म-विश्वास पाया। दूसरे अपने काव्य की अस्पष्टता पर मेरी दृष्टि गयी, तीसरे नये विकास-पथ की तलाश हुई।

यहाँ यह स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं कि मेरी हर विकास-स्थिति में मुझे घोर असन्तोष रहा और है। मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है। यह मैं निकटता से अनुभव करता आ रहा हूँ कि जिस भी क्षेत्र में मैं हूँ वह स्वयं अपूर्ण है, और उस का ठीक-ठीक प्रकटीकरण भी नहीं हो रहा है। फलतः गुप्त अशान्ति मन के अन्दर घर किये रहती है।

लेखन के विषय में : मैं कलाकार की 'स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति' (माइ-ग्रेशन इंस्टिंक्ट) पर बहुत ज़ोर देता हूँ। आज के वैविध्यमय, उलझन से भरे, रंग-बिरंगे जीवन को यदि देखना है, तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़ कर बाहर जाना ही होगा। बिना उस के, इस विशाल जीवन-समुद्र की परिसीमा, उस के तट-प्रदेशों के भू-खण्ड, आँखों से ओट ही रह जायेंगे। कला का केन्द्र व्यक्ति है, पर उसी केन्द्र को अब दिशा-व्यापी करने की आवश्यकता है। फिर युगसन्धि-काल में कार्यकर्ता उत्पन्न होते हैं, कलाकार नहीं, इस धारणा को वास्तविकता के द्वारा ग़लत साबित करना ही पड़ेगा।

मेरी कविताओं के प्रान्त-परिवर्तन का कारण है यही आन्तरिक जिज्ञासा। परन्तु इस जिज्ञासु-वृत्ति का वास्तव (ऑब्जेक्टिव) रूप अभी तक कला में नहीं पा सका हूँ। अनुभव कर रहा हूँ कि वह उपन्यास-

द्वारा ही प्राप्त हो सकेगा। वैसे काव्य में जीवन के चित्र की—यथा वैज्ञानिक 'टाइप' की—उद्भावन की, अथवा शुद्ध शब्द-चित्रात्मक कविता हो सकती है। इन्हीं के प्रयोग मैं करना चाहता हूँ। पुरानी परम्परा बिलकुल छूटती नहीं है, पर वह परम्परा है मेरी ही और उस का प्रसार अवश्य होना चाहिए।

जीवन के इस वैविध्यमय विकास-स्रोत को देखने के लिए इन भिन्न-भिन्न काव्य-रूपों को, यहाँ तक कि नाटच-तत्त्व को, कविता में स्थान देने की आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि इसी दिशा में मेरे प्रयोग हों।

मेरी ये कविताएँ अपना पथ ढूँढ़ने वाले बेचैन मन की ही अभिव्यक्ति हैं। उन का सत्य और मूल्य उसी जीवन-स्थिति में छिपा है।

—गजानन मुक्तिबोध

आत्मा के मित्र मेरे

वह मित्र का मुख
ज्यों अतल आत्मा हमारी बन गयी साक्षात् निज सुख ।
वह मधुरतम हास
जैसे आत्म-परिचय सामने ही आ रहा है मूर्त हो कर ।
जो सदा ही मम हृदय-अन्तर्गत छिपे थे
वे सभी आलोक खुलते जिस सुमुख पर !
वह हमारा मित्र है,
आत्मीयता के केन्द्र पर एकत्र सौरभ। वह बना
मेरे हृदय का चित्र है !
जो हृदय-सागर युगों से लहरता,
आनन्द में व्याकुल चला आता
कि नीला गोल क्षण-क्षण गूँजता है,
उस जलधि की श्याम लहरों पर जुड़ा आता
सघनतम श्वेत, स्वर्गिक फेन, चंचल फेन !
जिस को नित लगाने निज मुखों पर स्वप्न की मृदु मूर्तियों-सी
अप्सराएँ साँझ-प्रातः
मृदु हवा की लहर पर से सिन्धु पर रख अरुण तलुए
उतर आतीं, कान्तिमय नव हास ले कर ।
उस जलधि की युग-युगों की अमल लहरों पर
जुड़ा जो फेन,
अन्तर के अतल हिल्लोल का जो बाह्य है सौन्दर्य—
कोमल फेन ।
जिस के आत्म-मन्दिर में समर्पित,
दुःख-सुखों की साँझ-प्रातः जो अकेला
याद आता मुख हमें नित !

काल की, परिवर्तनों की तीव्र धारा में बहा जाता
मधुरतम साथ जिस का,
प्राण की उत्थान-गति की तीव्रता में
बह रहा उच्छ्वास जिस का,
जो हमारी प्यास में नित पास है—
व्यक्तित्व का सौरभ लिये, व्याकुल निशा-सा
निकटता के निज क्षणों में
जो कि उर की बालिका का मौनतम विश्वास है।
जो झेलता मेरे हृदय को निज हृदय पर
आत्म-उन्मुक्तीकरण की खुली बेला में कि जब
दो आत्माएँ
बालकों-सी नग्न हो कर खड़ी रहतीं
दिव्य नयनों में सहजतम-बोध नीलालोक ले कर!
वह परस्पर की मृदुल पहचान, जैसे पूर्ण
चन्दा खोजता हो
उमड़ती निःसीम निस्तल
कूलहीना श्यामला जल-राशि में प्रतिबिम्ब अपना,
हास अपना,
वह परस्पर की मृदुल पहचान जैसे
अतल-गर्भा भव्य धरती हृदय के निज कूल पर
मृदु स्पर्श कर पहचान करती, गूढ़तम उस विशद
दीर्घच्छाय श्यामल-काय बरगद वृक्ष की,
जिस के तले आश्रित अनेकों प्राण
जिस के मूल पृथ्वी के हृदय में टहल आये, उलझ आये।

मित्र मेरे,
आत्मा के एक!
एकाकीपने के अन्यतम प्रतिरूप।
जिस से अधिक एकाकी हृदय।
कमज़ोरियों के एकमेव दुलार
भिन्नता में विकस ले, वह तुम अभिन्न विचार
बुद्धि की मेरी शलाका के अरुणतम नग्न जलते तेज

कर्म के चिर-वेग में उर-वेग के उन्मेष।
पितृ-मन की स्नेह-सीमा का जहाँ है अन्त,
छलछल मातृ-उर के क्षेम-दर्शन के परे जो लोक,
पत्नी के समर्पण-देश की गोधूलि-सन्ध्या के क्षितिज के पार,
जो विस्तृत बिछा है प्रान्त
तन्मय-तिमिर छाया है जहाँ हिल-डोल से भी दूर,
है केवल अकेला व्योम ऊपर श्याम,
नीचे तिमिरशायी अचल धरती भी अकेली एक,
तरु के तले भी केवल अकेला मौन,
जिस की दीर्घ शाखाएँ बिछीं निस्संग
जैसे लटकती है एक स्मृति-पहचान, मन के
तिमिर-कोने में त्यजित,
पत्ते भी खड़े चुपचाप सीने तान—
अपनी व्यक्तिमत्ता के सहारे जो चले हैं प्राण,
उन को कौन देता है
अचल विश्वास का वरदान!
उन को कौन देता है प्रखर आलोक
ख़ुद ही जल
कि जैसे सूर्य !
अपने ही हृदय के रक्त की ऊषा
पथिक के क्षितिज पर बिछ जाय,
जिस से यह अकेला प्रान्त भी निःसीम परिचय की मधुर
संवेदना से
आत्मवत् हो जाय
ऐसी जिस मनस्वी की मनीषा,
वह हमारा मित्र है
माता-पिता-पत्नी-सुहृद् पीछे रहे हैं छूट
उन सब के अकेले अग्र में जो चल रहा है
ज्वलत् तारक-सा,
वही तो आत्मा का मित्र है।
मेरे हृदय का चित्र है।

दूर तारा

तीव्र-गति
अति दूर तारा,
वह हमारा
शून्य के विस्तार नीले में चला है।

और नीचे लोग
उस को देखते हैं, नापते हैं गति, उदय औ' अस्त का
इतिहास।
किन्तु इतनी दीर्घ दूरी,
शून्य के उस कुछ-न-होने से बना जो नील का आकाश,
वह एक उत्तर
दूरबीनों की सतत आलोचनाओं को,
नयन-आवर्त के सीमित निदर्शन या कि दर्शन-यत्न को।
वे नापने वाले लिखें उस के उदय औ' अस्त की गाथा,
सदा ही ग्रहण का विवरण।
किन्तु वह तो चला जाता
व्योम का राही,
भले ही दृष्टि के बाहर रहे—उस का विपथ ही
बना जाता।
और जाने क्यों,
मुझे लगता कि ऐसा ही अकेला नील तारा,
तीव्र-गति,
जो शून्य में निस्संग,
जिस का पथ विराट्—
वह छिपा प्रत्येक उर में,

प्रति हृदय के कल्मषों के बाद
जैसे बादलों के बाद भी है शून्य नीलाकाश ।
उस में भागता है एक तारा,
जो कि अपने ही प्रगति-पथ का सहारा,
जो कि अपना ही स्वयं बन चला चित्र,
भीतिहीन विराट्-पुत्र ।
इस लिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ ।

खोल आँखें

जिस देश प्राणों की जलन में
एक नूतन स्वप्न का संचार हो,
ओ हृदय मेरे, उस ज्वलन की भूमि में बिछ जा स्वयं ही;
औ' तड़प कर उस निराले देश में तू खोल आँखें।
देख—जलते स्पन्दनों में क्या उलझता ही गया है;
जो नयी चिनगारियाँ
नव स्वप्न का आलोक ले
उत्पन्न होती जा रही हैं,
उन सबलतम, तीव्र, कोमल देश की
चिनगारियों में
जो खिले हैं स्वप्न रक्तिम,
देख ले जी-भर उन्हें तू।
उस असीम विकल रस को पी स्वयं भी।
वह महा-व्याकुल अनावृत ज्ञान-लिप्सा
रख रही निज में अनावृत एक सपना—
सहस्रों स्वर्गीय स्वप्नों से बृहत्तर
स्वप्न का वह व्योम नीला
प्राण-पृथ्वी पर झुका है।
उस महा-व्याकुल अनावृत ज्ञानलिप्सा
के क्षितिज पर
जो खिचा है स्वप्न—
श्रावण-साँझ के वितरित घनों पर
अमित, नीला, जामुनी, अति लाल, सुन्दर
दिवस की बरसात को सूर्यास्त का चुम्बन
कि ऐसा अद्वितीय

मधुरतम
आश्चर्यमय।
वह ज्ञान-लिप्सा-क्षितिज-सपना
रे, वही तुझ में अनेकों स्वप्न देगा।
औ' अनेकों सत्य के शिशु
नव हृदय के गर्भ में द्रुत
आ चलेंगे।

आत्मा मेरी—
उस ज्वलन की भूमि में तू स्वयं बिछ ले
देख, जलते स्पन्दनों में क्या उलझता ही गया है।

अशक्त

क्या हमारे भाव शब्दातीत हैं ?
या तुम्हारा रूप भावातीत है ?
हम न गा सकते तुम्हारा गीत हैं
वह हृदय गम्भीर, नीरव सिक्त है !

यह विशद जीवन कि जो आकाश-सा
या कि निर्झर-सा चपल लघु तीव्र है,
क्या पूर्ण है ? क्या तृप्ति पाता शीघ्र है,
वह ग्रीष्म-सा है या मदिर मधुमास-सा ?

हम लिखें कविता विरह पर, दुःख पर
या मधुर आराधना पर, युद्ध पर;
या रचें विज्ञान जीवन के बने—
प्रश्नमय जो अंग सन्तत क्रुद्ध पर ?

खींच लें हम चित्र जीवन में बहे
रम्य मिश्रित रंग-धारा के नवल,
चकित हो लें, उल्लसित हो लें कभी
दुःख ढो लें, तत्त्व-चिन्ता कर सकल।

किन्तु यह सब तो सतह की चीज़ है,
भार बन मेरे हृदय पर छा रही।
या कि बहते सरित के ऊपर तहें
बर्फ़ की जमती चली ही जा रहीं।

पान्थ है प्यासा, थका-सा धूप में
पीठ पर है ज्ञान की गठरी बड़ी,
झुक रही है पीठ, बढ़ता बोझ है
यह रही बेगार की यात्रा कड़ी।

अर्थ-खोजी प्राण ये उद्दाम हैं,
अर्थ क्या ? यह प्रश्न जीवन का अमर।
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह ?
अर्थ क्या ? ललकार मेरी है प्रखर।

जब कि ऐसा ज्ञान मेरे प्राण में
तृप्ति-मधु उत्पन्न करता ही नहीं,
जब कि जीवन में मधुर सम्पन्नता,
ताज़गी, विश्वास आता ही नहीं;

जब कि शंकाकुल तृषित मन खोजता
बाहरी मरु में अमल जल-स्रोत है,
क्यों न विद्रोही बनें ये प्राण जो
सतत अन्वेषी सदा प्रद्योत हैं ?

जब कि अन्दर खोखलापन कीट-सा
है सतत घर कर रहा आराम से,
क्यों न जीवन का बृहद् अश्वत्थ यह
डर चले तूफ़ान के ही नाम से !

मेरे अन्तर

मेरे अन्तर, मेरे जीवन के सरल यान,
तू जब से चला, रहा बेघर,
तन गृह में हो, पर मन बाहर,
आलोक-तिमिर, सरिता-पर्वत कर रहा पार !
वह सहज उठा ले चला सुदृढ़ तपते जीवन का महा ज्वार,
उस के द्रुत-गति प्रति पदक्षेप से झंकृत हो उठ रहा गान,
जो नव्य तेज का भव्य भान ।
घर की स्नेहल-कोमल छाया में रहा महा चंचल अधीर ।
वे मृदुल थपकियाँ स्नेह-भरी,
वे शशि-मुसकानें शुभंकरी,
सब को पाया, सब को झेला पर स्वयं अकेला बढ़ा धीर ।
जीवन-तम को संगीत-मधुर करता उर-सरि का वन्य नीर,
ऐसा प्रमत्त जिस का शरीर, उन्मत्त प्राण-मन विगत-पीर !!

यह नहीं कि वह था तुंग पुरुष
जो स्वयं पूर्ण गत-दुःख-हर्ष
पर ले उस के घन ज्योतिष्कण जो बढ़ा मार्ग पर अति अजान ।
उस के पथ पर पहरा देते ईसा महान् वे स्नेहवान् ।
छाया बन कर फिरते रहते वे शुद्ध बुद्ध सम्बुद्ध-प्राण !!
यह नहीं कि करता गया पुण्य,
उस का अन्तर था सरल वन्य,
तम में घुस कर चक्कर खा कर वह करता गया अबाध पाप ।
अपनी अक्षमता में लिपटी यह मुक्ति हो गयी स्वयं शाप ।
पर उस के मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं,
जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं;

उस ने ईश्वर-संहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया।
स्फुरणा के लिए स्वयं को ही नव स्फूर्ति-स्रोत का ध्येय किया
वह आज पुनः ज्योतिष्कण हित
घन पर अविरत करती प्रहार,
उठते स्फुलिंग
गिरते स्फुलिंग
उन ज्योति-क्षणों में देख लिया
करता वह सत्य महदाकार!
सन्नद्ध हुआ वह ज्वाल-विद्ध करने को सारा तम-प्रसार,
वह जन है जिस के उच्च-भाल पर
विश्व-भार, औ' अन्तर में
निःसीम प्यार!!

मृत्यु और कवि

घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर
व्यापक अन्धकार में सिकुड़ी सोयी नर की बस्ती, भयकर
है निस्तब्ध गगन, रोती-सी सरिता-धार चली घहराती,
जीवन-लीला को समाप्त कर मरण-सेज पर है कोई नर ।
बहुत संकुचित छोटा घर है, दीपालोकित फिर भी धुंधला,
वधू मूर्च्छिता, पिता अर्ध-मृत, दुखिता माता स्पन्दन-हीना ।
घनी रात, बादल रिमझिम हैं, दिशा मूक, कवि का मन गीला ।
"यह सब क्षणिक, क्षणिक जीवन है, मानव जीवन है
क्षण-भंगुर,"
ऐसा मत कह मेरे कवि, इस क्षण संवेदन से हो आतुर
जीवन-चिन्तन में निर्णय पर अकस्मात् मत आ, ओ निर्मल !
इस बीभत्स प्रसंग में रहो तुम अत्यन्त स्वतन्त्र निराकुल,
भ्रष्ट न होने दो युग-युग की सतत साधना महाराधना,
इस क्षण-भर के दुःख-भार से, रहो अविचलित, रहो अचंचल ।
अन्तर्दीपक के प्रकाश में विनत-प्रणत आत्मस्थ रहो तुम,
जीवन के इस गहन अतल के लिए मृत्यु का अर्थ कहो तुम ।

क्षण-भंगुरता के इस क्षण में जीवन की गति, जीवन का स्वर,
दो सौ वर्ष आयु यदि होती तो क्या अधिक सुखी होता नर ?
इसी अमर धारा के आगे बहने के हित यह सब नश्वर,
सृजनशील जीवन के स्वर में गाओ मरण-गीत तुम सुन्दर ।
तुम कवि हो, ये फैल चले मृदु गीत निबल मानव के घर-घर
ज्योतित हों मुख नव आशा से, जीवन की गति, जीवन का स्वर!

नूतन अहं

कर सको घृणा
क्या इतना
रखते हो अखण्ड तुम प्रेम ?
जितनी अखण्ड हो सके घृणा
उतना प्रचण्ड
रखते क्या जीवन का व्रत-नेम ?
प्रेम करोगे सतत ? कि जिस से
उस से उठ ऊपर बह लो
ज्यों जल पृथ्वी के अन्तरंग
में घूम निकल झरता निर्मल वैसे तुम ऊपर बह लो ?
क्या रखते अन्तर में तुम इतनी ग्लानि
कि जिस से मरने और मारने को रह लो तुम तत्पर ?
क्या कभी उदासी गहिर रही
सपनों पर, जीवन पर छायी
जो पहना दे एकाकीपन का लौह वस्त्र, आत्मा के तन पर ?
है खत्म हो चुका स्नेह-कोष सब तेरा
जो रखता था मन में कुछ गीलापन
और रिक्त हो चुका सर्व-रोष
जो चिर-विरोध में रखता था आत्मा में गर्मी, सहज भव्यता,
मधुर आत्म-विश्वास।
है सूख चुकी वह ग्लानि
जो आत्मा को बेचैन किये रखती थी अहोरात्र
कि जिस से देह सदा अस्थिर थी, आँखें लाल, भाल पर
तीन उग्र रेखाएं, अरि के उर में तीन शलाकाएँ सुतीक्ष्ण,
किन्तु आज लघु स्वार्थों में घुल, क्रन्दन-विह्वल,

अन्तर्मन यह टार रोड के अन्दर नीचे बहने वाली गटरों से भी
है अस्वच्छ अधिक,
यह तेरी लघु विजय और लघु हार।
तेरी इस दयनीय दशा का लघुतामय संसार
अहंभाव उत्तुंग हुआ है तेरे मन में
जैसे घूरे पर उठा है
धृष्ट कुकुरमुत्ता उन्मत्त।

विहार

रवि का प्रकाश,
शशि का विकास-
पुंसत्वहीन नर का विळास।
ये सूर्य-चन्द्र,
नभ-वक्ष लुब्ध,
वे अमित वासना के शिकार।
वे गगन दीन
वे रसिक रुग्ण,
पुंसत्वहीन वेश्या-विहार।
इन का प्रकाश
जग के विशाल
शव का सफ़ेद परिधान साफ़।
है त्यक्त गेह
आत्मा अदेह
उड़ चली गटर से बनी साफ़।

[२]

दिन के बुख़ार
रात्रि की मृत्यु
के बाद हृदय पुंसत्वहीन,
अन्तर्मनुष्य
रिक्त-सा गेह
दो लालटेन-से नयन दीन;
निष्प्राण स्तम्भ

दो खड़े पांव
लकड़ी का खोखा वक्ष रिक्त;
मस्तिष्क तेल
की है मशीन
संसार-क्षेत्र है तैल-सिक्त।
दिन के बुख़ार
रात्रि की मृत्यु
के बाद हृदय दुःख का नरक,
रात्रि के शून्य
दो देह युक्त—
दो रिक्त प्राण व्यंग्य में ग़र्क़ !

पूँजीवादी समाज के प्रति

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि,
इतना ज्ञान, सस्कृति और अन्तःशुद्धि
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौन्दर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर-भक्ति,
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द—
जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बन्ध;
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुन्दर जाल-
केवल एक जलता सत्य देने टाल।
छोड़ो हाय, केवल घृणा औ' दुर्गन्ध
तेरी रेशमी वह शब्द-संस्कृति अन्ध
देती क्रोध मुझ को, ख़ूब जलता क्रोध
तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझ को देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे हास में भी रोग-कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र।
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल हो कर एक
अपनी उष्णता से धो चलें अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।

नाश देवता

घोर धनुर्धर, बाण तुम्हारा सब प्राणों को पार करेगा,
तेरी प्रत्यंचा का कम्पन सूनेपन का भार हरेगा।
हिमवत्, जड, निःस्पन्द हृदय के अन्धकार में जीवन-भय है।
तेरे तीक्ष्ण बाण की नोकों पर जीवन-संचार करेगा।

तेरे क्रुद्ध वचन बाणों की गति से अन्तर में उतरेंगे,
तेरे क्षुब्ध हृदय के शोले उर की पीड़ा में ठहरेंगे।
कोपित तेरा अधर-संस्फुरण उर में होगा जीवन-वेदन,
रुष्ट दृगों की चमक बनेगी आत्म-ज्योति की किरण सचेतन।

सभी उरों के अन्धकार में एक तड़ित् वेदना उठेगी,
तभी सृजन की बीज-वृद्धि हित जडावरण की मही फटेगी।
शत-शत बाणों से घायल हो बढ़ा चलेगा जीवन-अंकुर।
दंशन की चेतन किरणों के द्वारा काली अमा हटेगी।

हे रहस्यमय, ध्वंस-महाप्रभु, जो जीवन के तेज सनातन,
तेरे अग्निकणों से जीवन, तीक्ष्ण बाण से नूतन सर्जन।
हम घुटने पर, नाश-देवता! बैठ तुझे करते हैं वन्दन,
मेरे सिर पर एक पैर रख नाप तीन जग तू असीम बन।

सृजन-क्षण

जो कि तुम्हारे गर्त बने हैं अक्षमता के,
उन पर लहरा कर भरता मैं एक अवज्ञा।
वही गभीर अतल होते हैं,
वे ही सदा अमल होते हैं,
फिर जाती जिन पर वन्या-सी मेरी प्रज्ञा।
जब कि स्वयं मैं सुज्ञ बना हूँ
अज्ञों का अन्तर पा कर ही,
सदा रहूँ उन का चाकर ही
वे कि जिन्होंने आत्मरक्त से मुझ को सींचा।
कैसे हँस सकता हूँ मैं उन पर ही।
उन की मर्यादाएँ पा कर
दरिया अमर्याद लहराया,
अपने स्वर में स्वरातीत गीता दुलराता
मैं ने अरे उसी को पाया।
वे अपूर्णताएँ, ईर्ष्याएँ
मुझ में घुल कर धुल कर बनतीं सूर्य सनातन,
यह छिछलापन लघु अन्तर का
क्षण-क्षण नूतन को करता है शीघ्र पुरातन।
यों नूतन की विजय चिरन्तन,
महामरण पर महाजन्म का उदय क्षिप्रतर,
महाभयंकर से बहता है परम शुभंकर।
जो खण्डित औ' भग्न रहे हैं,
वे अखण्ड देवता उन्हीं के
मुझ में आ कर मग्न हुए हैं।
ये आँसू, ये चिन्ता के क्षण

मुझ में आ कर, पा परिवर्तन
जग के सम्मुख नग्न हुए हैं।
ओ रे, भग्न नग्न मलिनों के
खण्डित उग्र विकल के सागर,
ओ कुरूप बीभत्स सनातन
की प्रतिनिधि प्रतिभा के आगर,
अरे, अशिव बौने मस्तक के
चिरविद्रूप स्वप्न आत्मान्तक,
अरे अमंगल हास, घृणित आनन्द,
मरण के सदा उपासक,
भय मत खाओ, अरे पिशाचो,
जब कि सत्य तुम बने हुए हो।
अन्धकार में, किसी आड़ में,
किसी झाड़ की छाया में तुम
क्यों छिपते हो ? अरे भयंकर
व्रण-से जग की काया में तुम !
मैं स्वागत करता हूँ सब का,
क्योंकि प्रकृति से सूर्य-सत्य हूँ।
और जब कि तुम भव्य तने हो
मुझ में जलते स्वर्ण बनोगे
ज्वालाओं का नग्न नृत्य हूँ,
नभ की पृष्ठभूमि पर मेरी ज्वाला की छाया फिरती है,
काल झुलसता है, मुझ से सब तस्वीरें बनतो गिरती हैं।
पर यह कैसे ? जब कि तुम्हारे
लिए बना हूँ मैं प्रखर-प्रभ,
मेरे स्वर्ण-स्पर्श से आकुल
होता है अपार जीवन-नभ।
मैं उत्साह अनन्त, और तुम क्यों उदास अति अक्षम ?
मेरी ममता हो जाती है पर कठोर औ' निर्मम।
गर्वशी.ल मुझ को मत समझो,
किन्तु भार गुरु पा कर मैं भी
निज नयनों में हुआ भव्य हूँ, उत्साहित हूँ।

यह उत्साह सफ़ेद ज्वाल है
जो कि कलुष का महाकाल है,
इस में पड़ कर तुम भी श्वेत बनोगे तप कर।
नाप कौन पायेगा तुम को
आओगे जब इस से नप कर।
मैं केवल तुम पर जीवित हूँ
मेरी साँस, किन्तु तेरा तन,
मेरी आस और तेरा मन,
तू है हृदय और मैं लोचन
मैं हूँ पूर्ण, अपूर्ण झेल कर।
मैं अखण्ड, खण्डित प्रतिभा पर।
मैं मैली आँखों के अन्दर ज्योति गुप्त हूँ।
मैं मैले अन्तर के तल में
घन सुषुप्त आत्मा प्रतप्त हूँ।
मैं हूँ नम्र धूलि के कण-सा,
मैं अजस्र पृथ्वी के मन-सा,
घन मृत्कण में सृजन-क्षण मैं,
मलिनों में रह अग्नि-बिन्दु हूँ,
जीवन की सौन्दर्य-शान्ति में
नभोविहारी शरद-इन्दु हूँ।
शुभ्रारुण किरणों से बिम्बित
रजत-नील सर उत्कट उज्ज्वल
जिस में अनलोर्मिल, अनिलोर्मिल
कमल खिले हैं वे रक्तोत्पल।
मनोमूर्ति यह चिरप्रतीक है।
ध्येय-धृष्ट उर की ज्वालामय।
मेरी प्रज्ञा का सृजन-क्षण
ऐसा ऊष्ण शुभंकर तन्मय।

अन्तर्दर्शन

मैं अपने से ही सम्मोहित, मन मेरा डूबा निज में ही।
मेरा ज्ञान उठा निज में से, मार्ग निकाला अपने से ही ।।

मैं अपने में ही जब खोया तो अपने से ही कुछ पाया।
निज का उदासीन विश्लेषण आँखों में आँसू भर लाया ।।

मेरा जग से द्रोह हुआ पर मैं अपने से ही विद्रोही।
गहरे असन्तोष की ज्वाला सुलग जलाती है मुझ को ही ।।

आत्मवंचना-पीड़ित मेरा तिमिर-मगन उर बिम्बित मुख पर।
सिहर उठा मैं अश्रु-मलिन-मुख, अपने अन्तर के दर्शन कर।।

मैं ने मरण-चिन्तना की, जब जीवन का था दर्द बढ़ चला।
मानवता का कटु आलोचक अपने को ही दण्ड दे चला ।।

मेरा मन गलता निज में जब अपने से ही हार खा चुका।
दारुण क्षोभ-अग्नि में अपना प्रायश्चित्त-प्रसाद पा चुका ।।

रक्त स्रोत अन्तर से फूटा, लाल-लाल फ़व्वार दुःख का।
आत्म-दाह की ज्वलित पिपासा के युग में आया क्षण सुख का।।

रक्त-स्रोत अन्तर से फूटा, मेरा गात शिथिल हिम-शीतल।
मैं ने साक्षात् मृत्यु देख ली एक रात सपने में उज्ज्वल ।।

मैं ने यह जब कहा किसी से तो कहलाया अपना ख़ूनी।
जीवन-दाह-शान्ति-हित किस की गोद अपेक्षित ऊनी-ऊनी।।

आत्म-संवाद

[यह एक नाटकीय आत्म-संवाद है जिस में प्रकाश में बोलने के वाक्य कोष्ठकों में नहीं हैं। जो कोष्ठक में हैं वे यथार्थ आत्म-स्वीकृतियाँ हैं; और जो उस के बाहर हैं वे उस के यथार्थ रैशनलाइज़ेशन हैं। बाहरी ज़िन्दगी में ये रैशनलाइज़ेशन काम में आते हैं; किन्तु कुछ क्षणों में मन की यथार्थ अवस्था एकाएक खिंच आती है। तब इन दोनों का विरोध मन में चित्र-रूप-सा सामने आता है। उसी को नाटकीय ढंग से पेश किया गया है।]

आज छन्दों में उमड़ती आ रही है बात
जो कि सादे गद्य में खुलती रही
जो कि साधारण सड़क चलती रही
आज छाती में घुमड़ती आ रही है बात
रास्ता है, पैर हैं, औ' धैर्य चलता जा रहा है
(किन्तु उर में क्यों उदासी शाप-सी
प्रत्येक चेहरे में लिपी जो राख-सी)
प्राण है, औ' बुद्धि का भी कार्य चलता जा रहा है
वक्ष है, बल है, हृदय में ओज भी तो कम नहीं है
(किन्तु उर में अश्रु हैं अति म्लान भी
विवशता का है सहज अनुमान भी)
स्नेह है, आदर्श है, औ' तेज भी तो कम नहीं है
तर्क है औ' तर्क का राक्षस हमारे बाहु में है।
(किन्तु चिन्ता गुनगुनाती असगुनी
मौन ले बैठी व्यथा बन कर मुनी)
चन्द्र का माधुर्य उर के राहु में है।
चुप रहो तुम, तीर-सा आगे चला जाता सदा मैं।

(भुनभुनाता यह हृदय चुपचाप है,
गुनगुनाता जो मनुज का शाप है)
निर्झरों-सा मैं चपल बहता चला गाता सदा मैं।
मूर्ति मैं भव्योच्च, मृदु-गम्भीर, तन्मय, पूजनीया
(किन्तु उर है हिम-कठिन नि.संज्ञ भी
हृदय में शंका भरी है अज्ञ-सी)
सत्य की व्याख्या स्वयं हूँ !! (जो सदा है शोधनीया)
सफल हूँ (पथभ्रष्ट हूँ) अविजेय हूँ (आधीन हूँ मैं)
हृदय में घुन-सा लगा रहता
(पाप यह दारुण जगा रहता)
मैं महाशोधक महाशय सत्य-जल का मीन हूँ मैं
सत्य का मैं ईश औ' मैं स्वप्न का हूँ परम स्रष्टा
(किन्तु सपने ? प्राण की है बुरी हालत
और जर्जर देह; यह है खरी हालत)
उग्र-द्रष्टा मैं स्वयं हूँ जब कि दुनिया मार्ग-भ्रष्टा।

व्यक्तित्व और खँडहर

[व्यक्तित्व किन्हीं भी कारणों से विकेन्द्रित हो, परन्तु उस के लिए पुकार अवचेतन से, जो कि जीवन-शक्ति का रूप है, निकट सम्बन्ध रखती है। वह समग्रता की ओर, मनस्संगठन की ओर का प्रयत्न केवल बुद्धिगत ही नहीं, शुद्ध जीवनगत है। परन्तु यह विकेन्द्रीकरण अन्तर्बाह्य-विरोध, परिस्थिति-विरोध, आत्मविरोधों के द्वारा शुरू होता है।

यह विकेन्द्रित व्यक्तित्व, यानी व्यक्तित्व का खँडहर किसी अबूझे समय में अपने गत वैभव पर रो उठता है। उसी का कल्पनात्मक चित्रण निम्न कविता में है।]

खँडहरों के मूक औ' निस्पन्द से
उमड़े अकेले गीत।
ये भूत से निर्देह भय कर
बेचैन काले व्यथित आतुर
तिमिर नूपुर के अकेले स्वर,
उमड़े अकेले गीत।

हुए चंचल भयद श्यामल
भूत सम आकुल अकेले गीत
रात में जब छा चुका खँडहर तिमिर में,
तिमिर खँडहर में,
घूमते उस काँपती-सी वायु के स्वर में
अकेले गीत !
तम आवरण में लुप्त झरती धार के तट पर
रागिनी में म्लान-तन-मन-तरुण-रोदन-गीत
भर चला जाता विपिन के पात पुष्पों में प्रकम्पन
शिथिल उर गम्भीर सिहरन।

ये अकेले गीत

दब चुकी जो मर चुकी है आत्मा,
खत्म जो हो ही गयी आकांक्षा,
व्यक्ति में व्यक्तित्व के खँडहर
गान कर उठते उसी के गीत।
ये अकेले गीत, स्वरलय हीन गीत
मौन से बेचैन, लोचन-हीन गीत।

शीत रजनी काँप उठती
भर विजन के गीत, खँडहर गीत
ये अकेले गीत, पत्थर गीत, हिम के गीत
अन्धी गुफा के गीत !
बेचैन भूतों से, व्यथित के स्वप्न से वे गीत !
वे दुष्ट औ' दयनीय गीत,
कमज़ोर औ' कमनीय गीत,
उन्माद की तृष्णा सरीखे गीत !
स्वप्न की विक्षुब्ध सरिता के भयानक गीत !
निशि के अकेले औ' अचानक गीत !

विपिन औ' निर्झर,
तिमिर के घन आवरण में, भावना के इस मरण में
हैं हुए भय-स्तब्ध, तन निष्पन्द, दिग् रव-हीन
क्योंकि आलोडित हुआ विक्षुब्ध गीतों का महा तूफ़ान,
ले तीक्ष्ण स्वर-सागर-उफान !
तम शून्य में नभ के प्रवाहित हो चला भूचाल-सा यह गान
इस शीत स्वर के
कष्टदायी स्पर्श-शर-निर्झर प्रखर से
हुआ आप्लावित रुदित वन का सतत कमज़ोर प्रान्तर-प्राण
दब चुकी जो मर चुकी है आत्मा,
खत्म जो हो गयी, आकांक्षा।
आज चढ़ बैठी अचानक, भूत-सी इस काँपते नर पर
विक्षुब्ध कम्पन बन चढ़ी जाती सरल स्वर पर

प्रश्न ले कर, कठिन उत्तर साथ ले कर,
रात के सिर पर चढ़ी है, नाश का यह गीत बन कर।
हँस पड़ेगी कब सहज प्रकाश का यह गीत बन कर!

मैं उन का ही होता

मैं उन का ही होता, जिन से मैं ने रूप-भाव पाये हैं।
वे मेरे ही हिये बँधे हैं जो मर्यादाएँ लाये हैं।
मेरे शब्द, भाव उन के हैं,
मेरे पैर और पथ मेरा,
मेरा अन्त और अथ मेरा,
ऐसे किन्तु चाव उन के हैं।
मैं ऊँचा होता चलता हूँ
उन के ओछेपन से गिर-गिर;
उन के छिछलेपन से खुद-खुद,
मैं गहरा होता चलता हूँ।

हे महान् !

हे महान् ! तव विस्तृत उर से
दृढ़ परिरम्भण की क्षमता दो,
तव स्नेहोष्ण हृदय का स्पन्दन
सुन पाने की आकुलता दो।
जिस से विवश रहस्य खोल दे
सत्य कि विद्युत् विह्वलता दो !
जो तुझ से संघर्ष कर सके
ऐसी उर में कोमलता दो।
तुझ से कर संघर्ष, स्पर्श से
तेरे नव चेतनता आये,
तुझ से कर के युद्ध, क्रुद्ध हो
जीवन यह ऊँचा उठ जाये।
तेरे तन के अणु-अणु से तव
निरावरण हो अन्तर्ज्वाला,
एक-एक अणु सत्य खोल दे
ऐसी सतह स्वयं चल आये।
तेरे उर की मर्म-ज्वाल को
मुक्त खोलने की ममता दो,
हे महान् तव विस्तृत उर से
दृढ़ परिरम्भण की क्षमता दो।

पुनश्च

पिछले बीस वर्षों में न मालूम कितनी बातें घटित हुई हैं। वे सब के सामने हैं। मेरी अपनी ज़िन्दगी जिन तंग गलियों में चक्कर काटती रही उन्हें देखते हुए यही मानना पड़ता है कि साधारण श्रेणी में रहने वाले हम लोगों को अस्तित्व-संघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होना है। मेरा अपना प्रदीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उन के लिए है जो उस स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने के लिए सुपुष्ट आर्थिक अधिकार रखते हों, जिस से कि वे परिवार सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें और साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का ऐसा प्रयोग भी कर सकें जो विवेकपूर्ण हो। और लक्ष्योन्मुख हो अपने जीवन के आर्थिक आधार को दृढ़ और सुपुष्ट करने के लिए व्यक्ति के व्यवसायीकरण का मार्ग भी सामने आता है। मेरे लेखे यह अत्यन्त अनुचित मार्ग है। और कम से कम मैं उसे कभी स्वीकार नहीं कर पाया; लेकिन वह मार्ग तो सामने आता ही है और व्यवसायीकरण-व्यापारीकरण का दबाव तो तीव्रतर होता जाता है। सच तो यह है कि व्यक्ति की सच्ची आत्म-परीक्षा, उस की आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा, सब से प्रधान समय, उस इम्तिहान का सब से नाजुक दौर यही आज का युग है।

जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यन्तर लोक में भी दु:स्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारुण सत्य है। मैं कहूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है। परिणामत: स्वाधीनता के इस युग में मेरी कविता सघन बिम्ब-मालिकाओं में अधिकाधिक प्रकट होने लगी। अचानक अन्तर्मुख दशाएँ और भी दीर्घ और गहन होती गयीं। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि इस आत्मग्रस्तता के बावजूद और शायद उस को साथ लिये-

लिये मेरा आत्म-संवेदन समाज के व्यापकतर छोर छूने लगा। कविता का कलेवर मी दीर्घतर होता गया। परिणामतः मेरी कविताएँ कदाचित् मासिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन के योग्य भी नहीं रह गयीं।

यहाँ जो नयी कविता दी जा रही है, और जो सन् १९६३ की ही रचना है, अपेक्षाकृत छोटी है। इस से और छोटी रचनाएँ शायद मैं अब लिख नहीं सकता। भाव-प्रकृतियों के खयाल से यह कविता मेरा प्रायः सर्वांगीण प्रतिनिधित्व करती है। जैसे कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, वह मेरी इस टिप्पणी को और आगे बढ़ाती है और कदाचित् उस के बाद यह टिप्पणी भी अनावश्यक हो जाती है।

—गजानन मुक्तिबोध

एक आत्म-वक्तव्य

....और, जब
मेरा सिर दुखने लगता है,
धुँधले-धुँधले अकेले में आलोचना-शील
अपने में से उठे धुएँ की ही चक्करदार
सीढ़ियों पर चढ़ने लगता हूँ।

और हर सीढ़ी पर लुढ़की पड़ी एक-एक देह,
आलोचन-हत मेरे पुराने व्यक्तित्व,
भूतपूर्व, भुगते हुए, अनगिनत 'मैं'।
उन के शवों, अर्धं-शवों पर ही रख कर
निज सर्व-स्पृश पैर,
मेरे साथ चलने लगता भावी-कर-बद्ध
मेरा वर्तमान।

किन्तु, पुनः-पुनः,
उन्हीं सीढ़ियों पर नये-नये आलोचक-नेत्र,
(तेज़ नाक वाले तमतमाये-से मित्र)
खूब काट-छाँट और गहरी छील-छाल,
रन्दों और बसूलों से मेरी देख-भाल,
मेरा अभिनव संशोधन अविरत
क्रमागत।

अभी तक
सिर में जो तड़फड़ाता रहा ब्रह्माण्ड,
लड़खड़ाती दुनिया का भूरा मान-चित्र

चमकता है दर्द-भरे अँधेरे में वह
क्रमागत काण्ड।
उस में नये-नये सवालों की झखमार;
थके हुए, गिरते-पड़ते, बढ़ने का दौर;
मार-काट करती हुई सदियों की चीख़;
मुठभेड़ करते हुए स्वार्थों के बीच
भोले-भोले लोगों के माथों पर घाव।
कुचले गये इरादों के बाक़ी बचे धड़
अधकटे पैरों ही से लात मार कर
अपने जैसे दूसरे के लिए
सब करते हैं दरवाज़े बन्द—
उलटे दिल-दिमाग़ों में ग़ुस्से की धुन्ध।
अँधियाली गलियों में घूमता है,
तड़के ही, रोज़
कोई मौत का पठान
माँगता है ज़िन्दगी जीने का ब्याज;
अनजाना क़र्ज़
माँगता है चुकारे में, प्राणों का मांस।
हताहत स्वयं की हो दर्दीली रात—
जोड़-तोड़ करती हुई गहरी काट-छाँट;
रोज़ नयी आफ़त, कोई नयी वारदात।
पूरे नहीं हो सके हैं मानवीय योग,
हर-एक के पास अपने-अपने गुप्त रोग।
(परेशान चिन्तकों की दार्शनिक झींख)
उजली-उजली सफ़ेदी में
कोखों की शर्म;
(अधबने समाधानों)
भ्रूणों का, अँधरे में, क्रमागत जन्म;
सृजन—मात्र उद्गार-धर्म।
सत्ताग्रही, अर्थाकांक्षी
शक्ति के कृत्य,
और, मेरे प्राणों में

सत्यों के भयानक
केवल व्यंग्य-नृत्य,
व्यंग्य-नृत्य !!

उसी विश्व-यात्रा में, चट्टानों बीच,
किसी झुकी सँवलायी सांझ
मुझे मिला
(हृदय-प्रकाश-सा) अकेले में
बिजली से जगमगाता घर,
जिस के इर्द-गिर्द
कुछ अँधियाले पेड़
मानो सधे हुए, घने
बहुत घने, बड़े-बड़े दर्द ।
अचानक घर में से निकल आया एक
चौड़े माथे वाला, भोला, प्रतिभा का पुत्र
दुबला बाल-मुख ।
पहचाना मुझे, और हँस चुप-चाप,
मेरे खाली हाथों में रख गया
दीप्तिमान रत्न—
भयानक वीरानों में घूम कर
खोजा था जो सार-सत्य
आत्म-धन
छटपटाती किरनों का पारदर्शी क्वार्ट्ज़,
किरनें कि आलोचनाशील, धारदार
उपादान
जिन की तेज़ नोकों से अकस्मात्
मेरी काट-छाँट, छील-छाल
लगातार ।
इसी लिए, मेरी मूर्ति
अनबनी अधबनी अभी तक........

जिसे लिये कहाँ जाऊँ, सदा ही का प्रश्न ।

5454

अपने इस अधबने-पने का ग़रीब
यह दृश्य
पा न जाय, सभाओं में, कहीं तिरस्कार,
अर्थहीन समर्थों के द्वारा कहीं वह
निकाला न जाय।
इसी लिए, मुझे प्रिय अपना अन्धकार,
गठरी में छिपा रखा निजी रेडियम,
सिर पर, टोकरी में
छिपाया है मैं ने कोई य़ीशु,
अपना कोई शिशु।

परन्तु, मैं किसी पेड़-पीछे-से झोंक
लाख-लाख आँखों से देखता हूँ दृश्य,
पूरे बने हुओं ही के ठाठदार अक्स,
ऐसा कुछ ठाठ—
मुझे गहरी उचाट,
लगता है वे मेरे राष्ट्र के नहीं हैं।
उचटता ही रहता है दिल,
नहीं ठहरता कहीं,
ज़रा भी।
यही मेरी बुनियादी ख़राबी।

और, अब नये-नये मेरे मित्र-गण
मेरे पीछे आये हुए युवा-बाल-जन,
धरित्री के धन,
खोजता हूँ उन में ही
छटपटाती हुई मेरी छाँह,
क्या कहीं वहाँ मेरा रूपक-उपमान,
छिपी हुई कहीं कोई गहरी पहचान,
समशील, समधर्मा कहीं कोई है?

अच्छा है कि अटाले में फेंका गया मैं

एक प्रेम-पत्र,
किताबों में डाल, बन्द कर दी गयी अक़्ल,
काली-काली गलियों में
फिरती हुई आदमी की शक्ल,
अच्छा है कि अँधेरे में इलाक़ा-बदर
मैं हूँ जवाबी ग़दर,
जिस से कि और ज़्यादा तैयारियाँ कर
आज नहीं कल फूट पड़ूँगा ज़रूर,
ज़रूर !

असंख्यक इत्यादि-जनों का मैं भाग
इसी लिए, अनदिखे,
सुलगाता धीरे से आग,
जिस के प्रकाश में, तँबियाये चेहरों पर आप
संवेदित ज्ञान की काँपती ही
उठती है भाफ चुप-चाप ...
सच्चा है जहाँ असन्तोष,
मेरा वहाँ परिपोष।
वहाँ दिवालों पर टँगते हैं भिन्न मान-चित्र,
चिनगियाँ बरसाते
लगातार विचारों के सत्र,
मेरे पात्र-चरित्रों की
आँखों की अंगारी ज्योति
ललक कर पढ़ती है मेरा प्रेम-पत्र।
काँपता है वर्ग-मूल-अर्थ-भरा
त्रैराशिकी कोई स्मित स्निग्ध।
यथार्थों से चला हुआ
स्वर्गों तक पहुँचता है,
गणितों का किरणीला सेतु,
पृथ्वी के हेतु।
लेकिन, हाँ, उसी के लिए दिन-रात
नये-नये रन्दों और बसूलों से

लगातार लगातार
मेरी काट-छाँट
उन की छील-छाल अनिवार।
ऐसी उन भयानक क्रियाओं में रम
कटे-पिटे चेहरों के दाग़दार हम
बनाते हैं अपना कोई अलग दिक्-काल,
पृथक् आत्म-देश—
दृष्टि, आवेश !
क्षमा करें, अन्य-मति
अन्य-मुख मेरे परिजन !!

२

नेमिचन्द्र

[नेमिचन्द्र : जन्म आगरे में अगस्त १९१८ में हुआ, वहीं शिक्षा पायी और सन् १९४१ में एम० ए० पास किया। उस के बाद एक वर्ष तक शुजाल पुर में शिक्षक का काम किया; अब कलकत्ते में हैं। "नवम्बर १९४२ से कलकत्ते के एक मारवाड़ी दफ़्तर में किरानी हूँ; आगे की राम जाने।" विवाहित।

लिखना सातवीं कक्षा से प्रारम्भ किया। कहानियाँ और गद्यकाव्य भी लिखा पर मुख्यतया कविता ही लिखी; पिछले दो-चार साल से आलोचनात्मक निबन्ध भी। लिखना 'मूड' पर आश्रित है; अतः बहुत अधिक नहीं लिखा है। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ छपती रही हैं, पुस्तकाकार अभी नहीं।

पढ़ने में विशेष दिलचस्पी है। राजनीति में भी—क्रियात्मक रूप से। मार्क्सवादी, "और कम्युनिस्ट भी"। संगीत में भी रुचि है। "बन्दूक़ से निशाना लगाने और घोड़े पर सवारी करने में बड़ा आनन्द आता है," पर कलकतिया किरानी इस के पर्याप्त साधन नहीं पाता, अतः भ्रमण के लिए उत्सुकता बनी रहती है। "जब भी वक़्त मिले और साधन हों, तो घूमना पसन्द करता हूँ।"

१९४३ से—

इस अवधि में जीवन में बड़ी उथल-पुथल रही। सन् १९४४–४७ बम्बई में 'पीपल्स थियेटर एसोसिएशन' (इपटा) की नृत्य-मण्डली के साथ और १९४७–५४ तक "इलाहाबाद में तरह-तरह के पापड़ बेले।" ('प्रतीक' का सहायक सम्पादकत्व इसी में से एक 'तरह' है।) सन् १९५४ से दिल्ली में संगीत नाटक अकादमी से सम्बद्ध हैं, १९५९ से अकादमी के अधीन राष्ट्रीय नाटच-विद्यालय में नाटच-साहित्य पढ़ाते हैं।

"लिखना अभी तक वैसा ही अनियमित है। बेशुमार अनुवाद-कार्य के अतिरिक्त इस बीच थोड़ी-बहुत कविता और बहुत-कुछ आलोचना लिखी ही जाती रही। अभी तक पुस्तकाकार मौलिक कुछ नहीं छपा, यद्यपि अब कुछ दिनों से इस की आशंका बहुत बढ़ गयी है।"

"रुचि भी बदली है। संगीत, नृत्य और नाटक का शौक़ हावी रहा और है। राजनीति छुट ही नहीं गयी, उस क्षेत्र के सर्वव्यापी हीन सिद्धान्त और आदर्शहीनता के कारण उस से अरुचि हो गयी।" अब न मार्क्सवादी हैं न कम्युनिस्ट, क्योंकि शायद वयस्क हो गये हैं और हर प्रकार की वादिता के दमघोंटू प्रभाव को पहचानने लगे हैं।]

वक्तव्य

कुछ कविताएँ पाठक के सामने प्रस्तुत हैं। उन के नये रूप और स्वर का कलात्मक मूल्यांकन पाठक स्वयं करेगा। इस लिए उन के बारे में कुछ भी कहना यहाँ मुझे इष्ट नहीं। किन्तु तीव्रतम संघर्ष के इस युग में अनेक बाहरी दबावों के कारण जब व्यक्ति टुकड़े-टुकड़े हो कर बँट जाता है, जब बुद्धि और हृदय, आदर्श और व्यवहार, विवेक और कर्म किसी में परस्पर सामंजस्य नहीं बचता तब चार-छह कविताओं के सहारे कवि के व्यक्तित्व की सही उपलब्धि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होती है। और मेरा विश्वास है कि कला का अन्तिम मोल-तोल कलाकार के व्यक्तित्व के सहारे ही किया जा सकता है इस लिए कवि के भावना-जगत् की अनेकानेक विविधताओं में से एकसूत्रता यदि सम्भव हो तो पाठक के लिए सुलभ कर सकना ही इस वक्तव्य की सार्थकता हो सकती है।

प्रस्तुत कविताओं में से अधिकांश की मानसिक पृष्ठभूमि में संक्रान्ति के रंगों की ही प्रधानता है। संस्कार और विवेक की कशमकश की चेतना ही इन कविताओं का विषय है। मन को बाहरी जगत् की अनेक बातों से सन्तोष नहीं है, उस के संस्कार पग-पग पर किसी दीवार से टकरा जाते हैं। किन्तु जब इस टकराहट से बचने का मार्ग वह खोजने चलता है तो अपने-आप को और भी अकेला बना लेता है। तीव्र श्रम-विभाजन के फलस्वरूप आज हर-एक आदमी की ज़िन्दगी एक इकाई बन गयी है जिसे साधारणतः ऊपर से देखने पर भ्रम होता है कि वह अपने-आप में सम्पूर्ण है, जब कि सत्य यही है कि उसी विभाजन के फलस्वरूप परस्पर सहयोगिता और निर्भरता असाधारण रूप में बढ़ गयी है। किन्तु

विवेक चाहे जितना इस सत्य को सामने रखे, आज के कवि का मन प्रत्येक समस्या को सामने पा कर जैसे किसी की गोद में मुँह दुबका लेना चाहता है, अपने भीतर ही आत्मस्थ हो रहना चाहता है। प्रस्तुत कविताओं के पीछे विवेक द्वारा इस आत्मस्थ होने की चाह को परखने की प्रवृत्ति ही कवि की है। अपने संस्कारों और भावनाओं के जगत् को वह समस्याओं को सुलझाने के सही मार्ग पर—अर्थात् एक सामूहिक प्रयत्न के द्वारा उन का समाधान पाने के मार्ग पर—लाने में अपनी असमर्थता को बार-बार अपने विवेक के द्वारा चीर-चीर डालना चाहता है। उस के मन का सारा संघर्ष इसी बिन्दु पर केन्द्रित हो उठा है।

इस के अतिरिक्त कुछ कविताओं, जैसे 'अनजाने चुपचाप' या 'डूबती सन्ध्या' में केवल सौन्दर्यानुभूति की ही अभिव्यक्ति है। वे उन क्षणों की सृष्टि हैं जब मन संघर्ष से भागा नहीं है। पर तो भी संघर्ष के अतिरिक्त जीवन में भव्य और आनन्ददायक भी जो कुछ है उस से कवि का मन अभिभूत हो उठा है।

मेरा विश्वास है कि सौन्दर्य का आकर्षण 'पलायन' की ही प्रवृत्ति का सूचक सर्वदा नहीं होता। साहित्यिक आलोचना में आज-कल यह शब्द अनेक प्रकार के वादविवाद का विषय बन गया है। किन्तु सौन्दर्य की अनुभूति तो जीवन्तता का, जीवन की स्वीकृति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चिह्न है। जिस व्यक्ति में सौन्दर्यबोध अत्यन्त क्षीण है, उसे किस हद तक जीवित कहा जायेगा यह कहना कठिन है। सौन्दर्य की अनुभूति तो व्यक्तित्व को और भी सेंसिटिव और संवेदनशील बना देती है। पलायनशील साहित्य वही होगा जिस में साहित्यकार एक प्रकार के सौन्दर्याभास के कल्पना-जाल में अपने दायित्व से भागता है, जो सौन्दर्य के प्रति सचमुच आकृष्ट नहीं है बल्कि जो सौन्दर्य को अपनी दायित्वहीनता की एक आड़ बनाना चाहता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ जैसे व्यक्ति सचमुच में सौन्दर्यपूजक होने के कारण ही आज के अधिकांश 'प्रगतिशीलों' से अधिक ईमानदार और जीवन्त थे।

साहित्य में प्रगतिशीलता में मेरा विश्वास है और उस के लिए एक सचेष्ट प्रयत्न का भी मैं पक्षपाती हूँ। किन्तु कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में है, व्यक्तिहीनता में नहीं। आज ज़ोर-ज़ोर से प्रगति की पुकार करने की आवश्यकता इसी से

हो गयी है कि व्यक्तित्व आज खण्ड-खण्ड हो चुका है। अनेकानेक सामाजिक, राजनैतिक कारणों से जाने-अनजाने कलाकार बहुत से वर्गभ्रमों का शिकार होता है। इस लिए वह अपने व्यक्तित्व की विशिष्टताओं की सामाजिकता खो चुका है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के सर्वव्यापी भ्रम से वह मुक्त नहीं हो पाता। किन्तु इसी लिए यह बात स्पष्ट है कि कवि से प्रगतिशील होने की माँग का अर्थ है कि वह जीवन की ओर अपने दृष्टिकोण को बदले। अपने ही सामाजिक दायित्व और स्थान को नहीं बल्कि अपने काव्य के भी सामाजिक महत्त्व को समझे।

यह बात दुहराने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि कवि पर भी अन्य व्यक्तियों की भाँति एक नागरिक और सामाजिक दायित्व है। वह सर्वदा ही रहा है और कवि सर्वदा ही एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्तव्य पूरा करता आया है। पर आज यही महत्त्वपूर्ण सत्य कवि के मन से श्रम-विभाजन के कारण निकल गया है। और वह अधिक से अधिक आत्म-केन्द्री और अहंकारी बनता जा रहा है। वास्तविकता की चोट से वह नहीं बच पाता है तो वह और भी अपने-आप में सिकुड़ रहना चाहता है। फलस्वरूप उस का अपना आन्तरिक द्वन्द्व और भी बढ़ जाता है, उस की अन्तश्चेतना में दरार पड़ जाती है जिस का सीधा असर कविता पर पड़ता ही है। इसी लिए आज के हिन्दी के अधिकांश काव्य में या तो उच्छ्वास है या फिर पैटर्न। दूसरे शब्दों में या तो व्यक्ति को अपने से अवकाश नहीं या वह बुद्धि के जाल में इतना उलझा है कि भीतर मन को देखने की क्षमता नहीं। दोनों ही रास्तों से कविता की हत्या होती है।

समस्या इसी से यही है कि बिना सचेष्ट नागरिक, वास्तवदर्शी हुए कवि अधिक काल तक कवि नहीं रह सकता। राजनैतिक, सामाजिक शक्तियाँ, वह चाहे या न चाहे उसे आ कर बहा ले जायेंगी। किन्तु यदि वह विवेकपूर्वक वास्तव का सामना करता है तो वह अपने काव्य को न केवल सच्चा बना सकेगा बल्कि उसे मानवता की मुक्ति के लिए एक बड़ा भारी अस्त्र बना सकेगा क्योंकि स्वभाव से ही कला मानव-मुक्ति का आलोक है। इसी से आज निरा 'कवि' कोई कलाकार नहीं।

इस स्थापना की सचाई एक और तरह से भी परखी जा सकती है। ज्यों-ज्यों श्रम-विभाजन के फलस्वरूप कवि के मन की दुविधा और विष-

मता बढ़ती गयी है त्यों-त्यों कविता, विशेषकर कविता, अपना महत्त्व खोती चली है। और आज परिस्थिति यह है कि बहुत से लोग कविता के भविष्य के बारे में बहुत सन्दिग्ध हैं। किन्तु इस सन्देह की जड़ ही कवि के व्यक्तित्व के सामाजिक अंश को न समझ पाने से जमती है। यदि व्यक्तित्व में धीरे-धीरे पड़ती जाने वाली इन दरारों का सामाजिक विश्लेषण सामने रहे तो कविता के भविष्य का एक दूसरा ही चित्र उपलब्ध होगा। जिस दिन व्यक्ति, कवि सचेष्ट भाव से इस युगों पुराने संस्कारगत आन्तरिक विरोध को सुलझा कर अपनी चेतना को पूर्ण रूप से सामाजिक बना सकेगा, उस दिन कविता फिर अपने प्रकृत रूप में निखर उठेगी। बल्कि बहुत दिनों बाद फिर उसी दिन सच्ची कविता सम्भव हो सकेगी।

+ + +

कला, साहित्य, कविता के बारे में इन सब लम्बी-चौड़ी बातों को आप इन प्रस्तुत कविताओं में खोजें, यह तात्पर्य मेरा नहीं है। संक्रान्तिकाल के कवि की कठिनाइयाँ बहुत हैं। अपना मार्ग पहचानने के लिए और फिर उसी पर बने रहने के लिए मध्यवर्गीय प्राणी, कवि को निरन्तर बुद्धि का ही मुँह ताकना पड़ता है। शायद इसी लिए इस युग में श्रेष्ठ कविता अभी हिन्दी के लिए सम्भव नहीं है। अधिक से अधिक अगर कवि अपने मन की बेईमानी को भी ईमानदारी से देख कर दुनिया के आगे रख सके तो वह बहुत है। क्योंकि इस तरह से न केवल वह अपने व्यक्तित्व के विरोध को मिटाने के संघर्ष की ओर से सचेष्ट रहता है; साथ ही वह आने वाली पीढ़ियों के लिए एक नयी पगडण्डी तैयार करता चलता है जिसे खूँद-पीट कर किसी दिन शायद प्रशस्त राजमार्ग निर्मित हो सके।

—नेमिचन्द्र

कवि गाता है

कवि गाता है—
संक्रान्ति काल का कलाकार कवि—गाता है।
देख चाँदनी रातें कवि का नाच उठा उर,
स्वप्नदेश की परियों के गायन से उस का गूँज उठा स्वर,
आधी मुँदी हुई पलकों में
मदिरा-सा किस छबि का मीठा भार लिये,
वह बेसुध-सा है;
उस के नयनों में झूल रही किस रूप-परी की सघन याद,
उस के मन में कितनी पीड़ा, उस के मन में कितना विषाद !
और तभी वह गा उठता है
गीले गाने,
असफलता के, प्यार-प्रीति के, अपने दुख के—
कुछ बेमाने, कुछ अनजाने।
फूट उठा है उस का उर,
वह गाता है :
संक्रान्ति काल का
पीड़ित मानवता के युग का कलाकार कवि
गाता है !
कभी यहाँ आते हैं कोई बड़े राज्य के राजा साहब,
कितने दानी !
कभी प्रान्त के आते हैं सरकारी अफ़सर,
या कोई जनता के 'लीडर'
जो होते हैं सभी कला-कविता के प्रेमी—
कितने ज्ञानी !
उन सब के स्वागत में

जब-तब किसी सेठ के घर होती ही रहती है
दावत-मेहमानी।
कवि भी आमन्त्रित होता है,
वह भी आये;
राजा साहब, अफ़सर या जनता के 'लीडर'—
(या वह जो हों !)—
के स्वागत में गीत बना कर लाये, गाये;
और काव्य के चमत्कार से महमानों का दिल बहलाये।
आमन्त्रण की गुरुता से ही
सहज गर्व से फूल-फूल उठती है तब उस कवि की छाती
—गद्गद हो कर गा उठता है कवि
तब राजा और सेठ की स्तुति के गायन।
गाता है वह कलाकार,
जब बाहर दुनिया में फैली घनघोर विषमता,
दिशि-दिशि से उठ रहा भयानक चीत्कार
उस को तो है बस अपने सपनों से ममता—
वह कलाकार !
क्या परवा, उस को एक ओर भूखे मरते लाखों प्राणी,
वह दिव्य दृष्टि से देख रहा, उस की तो युग-युग की वाणी,
उस के स्वर में है बोल रही देवी सरस्वती कल्याणी !
कवि द्रष्टा है
जीवन के पीछे छिपे हुए अज्ञात तत्त्व का।
मानवता के अमर चिरन्तन नियमों का
कवि स्रष्टा है।
वह क्या गाये
इस वर्तमान के, अति कुत्सित बीभत्स अँधेरे के,
जड़ता के,
काले-काले क्रुद्ध गीत,
जब देख रहे उस के अधमूँदे नयन,
क्षितिज के पार दूर गरिमा के गौरव से मण्डित स्वर्णिम
अतीत !
वह गाता है—

षोडशवर्षीया सुकुमारी,
बड़े-बड़े महलों में रहनेवाली सुन्दर राजकुमारी की प्रशस्ति में
(राजमहल वे,
ज़िन की गहरी नीवों पर बलिदान हो गये
भूखे, नर-कंकाल अस्थि-पंजर-से वे लाखों मजूर,
जिन के गरम रक्त से सिंचित
राजमहल यों छाती ताने आज खड़े हैं !)
रूप और वैभव की मदिरा में विभोर
कवि गाता है
अतृप्त यौवन के, लिप्सा के
गीले-गीले गलित गीत :
मृत्युशीत !
कवि गाता है,
वह कलाकार है ।
व्याकुल मानवता की संस्कृति की रक्षा का
उस के ऊपर आज भार है
भूत-भविष्यत्-वर्तमान को देख रहा वह आर-पार है ।
वह ईश्वर है,
वह ज्ञाता है,
दानवता से रौंदे जाते मनुष्यत्व का प्रतिनिधि है
वह कलाकार जो गाता है,
जो केवल गाता है—!

डूबती सन्ध्या

डूबती निस्तब्ध सन्ध्या;
ग्रीष्म की तपती दुपहरी, प्रबल झंझावात के पश्चात्,
सुनसान शान्त उदास सन्ध्या।
विरल सरि का चिर-अनावृत्त गात
जो किसी की आँख के अभिराम जादू के परस से
हो उठा है लाल,
ऐसा गात
किस अनागत की प्रतीक्षा में खुला है ?
दो किनारे,
व्यथित व्याकुल—
बाहु-बन्धन में किसी को बाँधने को
नित्य आकुल;
व्यर्थ ही तो है,
युगों से इस अनावृत मुग्ध यौवन का
उपेक्षित देह का आह्वान
छवि का गान !
वक्ष पर फैली सुनहली
अलस मन, अभिराम, सिकता;
तन बिछाये,
चिर-समर्पित जो छिपाये,
युगों से चुपचाप—रिक्ता !
अस्त होते अरुण रवि का स्नेह-वैभव
इस चरम अवसान के पल में
बिखेरा चाहता है
विश्व पर अपनी प्रभा का दान
इसी से प्रत्येक पल,
मानो किसी अतिरेक का हो घनीभूत स्वरूप,

पलक में बुझ जायगा ऐसे प्रकम्पित दीप के
स्नेहिल हृदय का रूप।
थकी किरणों का जगत् को प्रीति का उपहार—
मन की कालिमा को प्यार से धो डालने का चिरन्तन व्यापार,
जो कि पल भर में अभी हो जायगा निःशेष,
हो उठा है
इसी से अपनी क्षणिकता में मधुर छविमान !
दूर जीवन के थपेड़ों से परे
सूने गगन में आँख फाड़े
कल्पना-प्रिय युवक-कवि-सी सहज निष्प्रभ
खड़ी हैं वैभव-विहीन पहाड़ियाँ !
इस विभा के मधुर पल में भी नहीं है
पत्थरों के
इन पहाड़ी पत्थरों के हृदय में कुछ स्नेह-कम्पन
प्राण का संचार
वे खड़े हैं अचल चिर अविकार !
वह विचित्र कुरूपता उन को
विभा के पार्श्व में
है हो उठी कुछ और भी असमान।
ख़ूब तन कर यों अकेले खड़े रहने का
असंगत दर्प,
उच्चता का गर्व,
अपनी पूर्णता का वह निरन्तर भान,
ओछा अकिंचन अभिमान,
लगता है निरर्थक।
इस उँचाई का नहीं है
भूमि के रसमय प्रणय में योग,
इस लिए,
हलकी प्रलम्बित मौन छायाएँ गिराता
छिप गया सूरज कहीं पर दूर,
और थक कर चूर
दिन सोने लगा है साँझ की गहरी उदासी में।

अनजाने चुपचाप

अनजाने चुपचाप अधखुले वातायन से
आती हुई जुन्हाई-सा ही
तेरी छवि का सुधि-सम्मोहन
आज बिखर कर सिमट चला है मेरे मन में।
छलक उठा है उर का सागर
किसी एक अज्ञात ज्वार से,
किन सपनों के मन्दिर भार से,
किन किरनों के परस-प्यार से,
पल भर में यों आज अचानक।
यह किस रूप-परी विरहिन के उर की पीड़ा
मेरे जी में भी चुपके से तिर आयी है
यों अनजाने।
गूँज उठा है अन्तर-जीवन
किस फेनिल अरुणाभ राग से;
किन फूलों के मधु पराग से
पुलकित हो आया है,
आकुल मधु-समीर।
जी के इस कानन में भी फूली है सरसों,
इस वन का भी कोना-कोना
है भर उठा अकथ छलकन से;
प्राणों के कन-कन से
झरता मौलसिरी के फूलों-सा
अम्लान स्नेह।
तुम हो मुझ से दूर कहीं पर
यौवन के प्रभात में विकसित,

डाली पर झुक-झुक
बल खाती,
सहज सरल निज क्रीड़ा में रत
कुन्दकली-सी।
यह मधुमास सजीला चुप-चुप
तेरे उर के आँगन को
गीला कर-कर जाता होगा री;
परिमल के मिठास से भाराकुल,
यह वासन्ती बयार,
उलझ-उलझ कर खोल-खोल देता होगा री,
तेरा कच-सम्भार सुरभिमय।
कुछ अनमनी उदासी से तुम
सहज भाव से,
अपने विकच लोचनों के ऊपर से—
वे लोचन जिन में प्रतिपल में
छलक-छलक आती है बरबस
छनी हुई करुणार्द्र मधुरिमा,
जिन में हो कर सुमुखि,
तुम्हारे सहज स्नेह का सब गीलापन
बिखर-बिखर आता है—
किस रजनीगन्धा के मद से लदा लबालब
भरे हुए उन चंचल नैनों के ऊपर से
हटा-हटा देती होगी वे केश हठीले।
यह चाँदनी निहार अचानक
उन अनार की अविकच कलियों-से होठों से,
तभी तुम्हारे मन का सब अनजाना उन्मन प्यार लजीला
बह-बह आता होगा रानी,
स्वर-धारा में।
पवन गुंजरण से भी कोमल, अति कोमल वह,
निविड शून्य में
तेरी वाणी का स्वर
भर-भर

गूँज-गूँज उठता होगा,
अग-जग में।

मैं एकाकी,
मेरे आगे टेढ़ा-मेढ़ा बिखरा फैला है
अनन्त पथ अब भी बाक़ी।
बिना तुम्हारे,
इस वसन्त-रजनी की दूध-भरी छाया में
चला जा रहा हूँ मैं पग-पग
बिना विचारे, बिना सहारे।
केवल रानी,
यह मदिरा-सी तरल जुन्हाई,
—किसी रूपसी सुरबाला के तन की आभा-सी यह छायी—
भर जाती है मेरे मन में तेरी छवि का सुधि-सम्मोहन,
और प्यार से पिघल-पिघल कर
मेरा दुख हो आता पानी !

इस क्षण में

आज उचटा-सा हृदय;
साइरन बज जाय उस के बाद
निर्जन शून्य सड़कों-सा निभृत, निस्संग, खाली,
व्यर्थता की स्याह-सी बेमाप चादर से
अभी ज्यों ढँक गया हो शून्य जी का प्रान्त।
हो गया है आज इस क्षण में,
न जाने किस लिए उत्साह निर्वासित,
भयानक शीत के, हिम के, अचानक खुल गये हैं द्वार
कब-कब के रुके,
जी पड़ गया फीका विरस निस्सार
सब कुछ—मरण, जीवन, अरुक हृत्कम्पन!
असम्बद्ध अनेक तागे-से
हृदय से निकल कर
होते चले हैं निष्प्रयोजन ही किसी सुनसान-से में लीन
और केन्द्रविहीन-सा मन
चकित है,
कुछ थका-सा भी है
न पा कर इस विरसता की कहीं भी थाह;
इस अलक्षित अनमनी झंकार का
अब कौन-सा है हेतु,
आखिर कौन-सी है चाह?
एक बस तुम ही
उदासी की अमा में किरण-रेखा-सी
कहीं से
दूर ही से घोल देती हो विभा के रंग;
ग्लानि की इस घटाटोप अभेद बदली में

तुम्हारी याद ही
बस कांप उठती है चमक-सी ।

हड्डियों को भेद कर कँपकँपी जो उत्पन्न कर दे,
उस भयानक शीत बेला में
तुम्हारी याद, प्रिय,
पत्तियों पर बस गयी हिम की सतह-सी
सरल पावन और चिर अविकार;
जिस अकल्पित दिव्यता की सुरभि से,
सौन्दर्य से,
मन का सभी व्यापार ही थम जाय,
पलक भी हो जायँ स्थिर, निस्पन्द,—
उस परम आनन्द-सी,
निष्कलुष सौन्दर्य के आगे उमड़ती विवशता-सी
पूर्ण, व्यापक, मधुर....
इस तुम्हारे सुधि-परस से
हो चली
सब ग्लानि, कड़वाहट हृदय की दूर
खुल रहे हों बन्द वातायन कि जैसे प्राण के इस कक्ष के ।
आज ही प्रिय,
इस लिए ही आज पहली बार ही,
मैं पा गया हूँ तुम्हें पूरम्पूर
चीन्ह पाया हूँ
कि इतनी दूर से,
इस अगम व्यवधान को भी चीर कर
आकुल तुम्हारे स्नेह के आलोक का संस्पर्श
मेरे अनमने सन्तप्त प्राणों को
सदा भरता रहेगा
चैत की पूनो,
शरद की चाँदनी के गीत के बेहोश स्वर-आरोह से
रात-रानी के नशे से,
सुरभि से !

धूल-भरी दोपहरी

धूल-भरी दोपहरी
जगती के कण-कण में गूँजी आकुल-सी स्वर लहरी
सरल पल आते-जाते
करुण सिकता भर लाते
एक मूर्च्छना-सी प्राणों पर बेमाने बरसाते
अलसता होती गहरी !

मधुर अनमनी उदासी
एक धूमिल रेखा-सी—
छायी है; बहता जाता है पवन अरुक संन्यासी
कौन देश की ठहरी ?
आ कर यों चल दिये कहाँ ओ जग के चंचल प्रहरी !

आगे गहन अँधेरा है

आगे गहन अँधेरा है, मन रुक-रुक जाता है एकाकी,
अब भी है टूटे प्राणों में किस छवि का आकर्षण बाक़ी ?
चाह रहा है अब भी यह पापी दिल पीछे को मुड़ जाना,
एक बार फिर से दो नैनों के नीलम-नभ में उड़ जाना,
उभर-उभर आते हैं मन में वे पिछले स्वर सम्मोहन के,
गूँज गये थे पल-भर को बस प्रथम प्रहर में जो जीवन के;
किन्तु अँधेरा है यह, मैं हूँ, मुझ को तो है आगे जाना—
जाना ही है—पहन लिया है मैं ने मुसाफ़िरी का बाना।
आज मार्ग में मेरे अटक न जाओ यों, ओ सुधि की छलना !
है निस्सीम डगर मेरी, मुझ को तो सदा अकेले चलना,
इस दुर्भेद्य अँधेरे के उस पार मिलेगा मन का आलम;
रुक न जाय सुधि के बाँधों से प्राणों की यमुना का संगम,
खो न जाय द्रुत से द्रुततर बहते रहने की साध निरन्तर,
मेरे उस के बीच कहीं रुकने से बढ़ न जाय यह अन्तर।

क्या भाया ?

क्या भाया ?
अनजाने मन क्यों इस कोलाहल में खिंच कर बह आया ?
वे वन की सन्ध्याएँ निर्जन
मदिर अरुण, पीली,
भोली-सी नीली;
सूना निर्झर-तीर
कहीं से मौलसिरी का परिमल उन्मन
लाया सिहराता समीर,—
भर लाया।
नन्हीं चिड़ियों का कलरव सुन
पूछ-पूछ उठता था मन,
यह क्या गाया,
भोली चिड़ियों ने क्या गाया ?
ये उलझे आवरण यहाँ के,
बन्धन की छाया
झूठी जीवन की परिभाषा
रीते-से आडम्बर की ओछी-सी अभिलाषा····
इस कोलाहल के अंचल में आ कर क्या पाया ?
क्या पाया ?
क्यों मन खिंच कर बह आया ?

ज़िन्दगी की राह

यह ज़िन्दगी की राह,
है कब चुकी,
चिर विकल मानव के अधूरे-से बने उन स्वप्नलोकों को,
अरुक यह गीत लहरी कब रुकी,
है क़ब चुकी;
एक स्वर से, एक लय से चल रही है
युगों से जिस के सहारे त्रस्त मानव के हृदय की धुकधुकी
जो कब्र चुकी, है कब रुकी ?

है निरन्तर ही प्रगति की,
एक गति से दौड़ने की, छिपी मन में चाह;
मेघ-माला से लदे,
ऊँचे, बरफ़ के अनुल्लंघ्य, अगम्य पर्वत;
काँपते तूफ़ान के विक्षोभ से चंचल
अछोर तरंग संकुल,
सर्वभक्षी सागरों को रौंद जाने
लाँघ जाने का अथक उत्साह;
ऐसी चाह—
यह है ज़िन्दगी की राह !
यहाँ रुकने का न कुछ अवकाश
मौत से भी तेज़ गति से चल रहा है आज जीवन
किन्तु तो भी है न मंज़िल पास—
है ऐसा विचित्र प्रवास।

इस निरन्तर भागने से हार कर रुक भी गये

तो—
क्या यहाँ तुम इस डगर में किसी से दो बात कर के
कहोगे अपने हृदय का दर्द ?
इस अकेली यात्रा में कहीं से पल-भर अटक कर
जो सुनहली गहन-पीड़ा का मधुर सम्भार
लाये हो, पथिक !
आकुल किसी का प्यार,
आतुर भीगते-से लोचनों से बरसता कुछ नेह का संसार,
उसे कह दोगे किसी से ?
और खोलोगे
सरस सुकुमार
अपने व्यथित प्राणों में घुमड़ती आह ?
किन्तु यह तो पत्थरों की राह।
दूर तक सूनी अकेली पत्थरों की राह,
वे कठिन पत्थर
तुम्हारी कथा सुन जो दे सकेंगे एक ही,
बस व्यंग्य की तीखी हँसी का एक ही उपहार !
सुख-दुःखों के कल्पना-कोमल खिलौने
वज्र-निर्मम पत्थरों पर पड़े,
पल में टूट जायेंगे,
नहीं है इन्हें कुछ परवाह
ऐसा पत्थरों का प्यार !

यह है पत्थरों की राह !
यहाँ रुकने का नहीं अवकाश,
मंज़िल दूर हो या पास,
हों उत्फुल्ल, मधु से सिक्त, छलकन से भरे
ये प्राण,
या हों चिर-निराश, उदास—
नहीं अवकाश !

ज़िन्दगी की राह के कुछ दूसरे ही हैं नियम,
कुछ दूसरे ही ढंग।
सामने जिस के प्रखरतम
ज्योति का,
नव ज्वाल की भीषण प्रभा का लाल पावन रंग—
तड़पता विद्रोह से अस्थिर सितारा !
आज पथदर्शक वही है
चले आओ उसी आभा के सहारे;
व्यर्थ मत खोजो किसी छवि के,
किसी मधु-आह्वान में खोये हुए कवि के
रँगीले कल्पना के परी-लोकों के किनारे !
सब भटकना छोड़ पन्थी
आज आओ साधना की राह,
जीवन एक ऐसी राह।
सर्वहारा,
प्रगति के उद्दाम नव उन्माद से बेचैन
आकुल एक धारा,
एक सतत प्रवाह—
ऐसी ज़िन्दगी की राह !
जीवन एक लम्बी राह !

व्यर्थ !

मार्गदर्शक बोल दो—
हो रही हैं पुतलियाँ धुँधली अनवरत चेष्टा से
देखने की
गहन की अस्पष्टता को चीर कर अपना विलम्बित लक्ष्य,
जो कि मानो व्यंग्य से
उपहास से,
निर्मम,
सरकता जा रहा है
दूर,
दूरतर,
अनुल्लंघ्य अभेद तम में से
अचानक ही डरी-सी काँपती धीमी किसी आवाज़-सा ही
दूरतम⋯
किन्तु मैं हारा नहीं हूँ;
फड़फड़ाती हैं अभी बाँहें
कि अपने मार्ग के अवरोध सारे तोड़ दूँ—
फेफड़ों में रक्त बहता है अभी इतना
कि कस लूँ
उस बिखरती अथिर छलनामयी को
आश्लेष में,
जो तोड़ दे व्यवधान
कर दे एक, एकम-एक,
दो इन दूर पर चलते सितारों को।
किन्तु पथ-दर्शक,
विवश मैं हार जाता हूँ भयंकर मौन से,

बेमाप अपने प्राण में छाये हुए एकान्त से,
सतत निर्वासित हृदय से।
तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे असंगत दर्प ने मन की
सहज अनजान स्वाभाविक अनावृत धार को
कर दिया है कुण्ठित—
सहज अंगारे
कि मानो दब गये हों, बुझे-से
जैसे कि ठण्डी राख से।
जल रहे हैं,
मात्र छूने से लगा दें,
प्रज्वलित कर दें अकल्पित ज्वाल-मालाएँ—
ऐसा दाह भी है;
है नहीं बस शक्ति ही सहयोग की,
सब तरफ़ फैले हुए
उन विविध गतिमय, प्राणमय
संचलित तत्त्वों से किसी सम्बन्ध की,
कुछ स्वतःस्फूर्त सजीव विनिमय की
इस लिए ओ मार्ग-दर्शक,
आज मैं बस व्यर्थ हूँ
सुनसान में निर्जन खड़े ऊँचे महल-सा!

उन्मुक्त

हो गया आज उन्मुक्त विहग पल में अबन्ध
छुट गये वासना के नाते सब मोह-अन्ध।
खुल गये पलक में ममता के सब नाग-पाश;
कारा-तम के वासी ने देखा उषा-हास,
उड़ चला गगन में अपने आतुर पंख खोल।
भर गयी मुक्ति मन में कुछ वह मस्ती अमोल।
उद्दाम वेग से उड़ा चला मानो अशान्त—
हो नभ की सीमा ही छू लेने को नितान्त;
उड़ जायेगा मानो अग-जग के आर-पार,
उस के अन्तर में आया है वह रक्त-ज्वार।
है आज न उस के प्राणों को कोई विराम,
वह छोड़ चला रुकने के सारे सरंजाम,
उस के आगे क्या ठहरेगा कोई विरोध ?
हो गया उसे अपनी क्षमता का पूर्ण बोध !
चिर-दिन से बन्दी आकुल-सा कोई प्रवाह
पा जाय अचानक ही अपनी अवरुद्ध राह,
उस के आगे तब ठहर सका है कौन कूल ?
—जब हो पड़ती है प्राणों की गंगा अकूल।
वह आज चीर देगा अम्बर का उर अनन्त,
युग-युग की जड़ता का कर देगा आज अन्त,
वैषम्य शृंखलाएँ होंगी सब चूर-चूर,
उग रहीं स्वर्ण-रेखाएँ समता की सुदूर।
वह आज मिटा देगा जीवन से वृथा दम्भ,
होगा उस पल में ही नवयुग का समारम्भ !

धीरे-धीरे कलियों के खुलने के समान
उस गहन वेदना का रहस्य वह गया जान,
है काँप रहा जिस से संसृति का वक्ष-देश,
है कण्ठ रुँधा-सा, पलकें अविचल निर्निमेष।
उस चिर-असीम के आगे निज सीमित कुरूप
अपने मन का पहचान गया है वह स्वरूप;
लगता है कितना ओछा अपना क्षुद्र प्यार,
कितना दुर्बल है बौना अपना अहंकार!
पर आज धुल गया है सारा वह छद्मवेश,
पहचान गया है वह अपनी लघुता अशेष;
वे घोर अपावन छलना के पल गये बीत—
वह आज विसर्जित है प्रभु-चरणों में पुनीत।
ममता के बन्धन, बन्धन की ममता समस्त
अब टूट चुकी; उस का पथ फैला है प्रशस्त।

पुनश्च

'तार सप्तक' को प्रकाशित हुए अब लगभग बीस साल हो गये। स्पष्ट है कि इस बीच इस संग्रह के प्रत्येक कवि की सामान्य कविता सम्बन्धी, और स्वयं अपनी काव्य-प्रक्रिया सम्बन्धी धारणाओं में बहुत-कुछ विकास या परिवर्तन हुआ ही होगा। पर उस की चर्चा के लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं। बल्कि अब सामान्यतया, और 'तार सप्तक' के अनुभव के कारण विशेष रूप से, मुझे लगता है कि कवि का अपनी कविता के सम्बन्ध में; चाहे सफ़ाई के तौर पर चाहे व्याख्या के रूप में, कुछ भी कहना कविता और पाठक दोनों के बीच दीवार खड़ी करना है। उस से लगभग अनिवार्य रूप से पाठक का ध्यान कविता से अधिक कवि के वक्तव्य पर चला जाता है, जिस से उस काव्य की अनुभूति का ग्रहण अप्रासंगिक और कवि के सिद्धान्तों की चर्चा मुख्य हो जाती है। स्वयं 'तार सप्तक' की परवर्ती आलोचनाएँ इस बात का सब से बड़ा प्रमाण हैं। कुछ तो 'तार सप्तक' के कवियों, और विशेषकर सम्पादक महोदय के चुनौती भरे स्वर तथा सिद्धान्तबाज़ी के कारण, और कुछ हिन्दी के आलोचकों की मूढ़ता के कारण, उन कवियों के काल्पनिक 'प्रयोगवाद' की ही चर्चा अधिक हुई, उन की कविता का उचित आकलन या मूल्यांकन नहीं हो सका।

दुर्भाग्यवश 'तार सप्तक' एक अन्य भ्रम का भी शिकार हुआ। साधारणतः यही माना और समझा जाता है कि 'तार सप्तक' किसी सुचिन्तित काव्य-आन्दोलन का अग्रदल था जिस के झण्डाबरदार और नेता उस के सम्पादक महोदय थे। फलस्वरूप सम्पादक महोदय से सम्बन्धित विभिन्न साहित्यिक और व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों की तीखी आलोचना का बेशुमार बोझ

भी 'तार सप्तक' के कवियों और उन के निमित्त से मोड़ लेती हुई नयी काव्य-चेतना को उठाना पड़ा। तथाकथित, 'प्रयोगवाद' तथा समस्त नवीन काव्य की सारी परवर्ती आलोचना मूलतः उस के सम्पादक के नेतृत्व की, साहित्यकार और कवि 'अज्ञेय' की आलोचना होती रही, और इन कवियों का अपना व्यक्तित्व उपेक्षित भी हुआ और ग़लत भी समझा गया। इस ने किसी हद तक उन कवियों के भावी विकास को, और हिन्दी काव्य की परवर्ती दिशा तथा गति को, अहितकर रूप में प्रभावित किया और मूल्यांकन के मानदण्डों में भी विकृति उत्पन्न की।

इस भ्रम का निराकरण शायद इस अवसर पर समुचित हो। वास्तव में, 'तार सप्तक' के सम्पादक महोदय का हाथ उस के प्रकाशन में चाहे जितना रहा हो, पर उस की परिकल्पना उन की नहीं थी और न उस में संग्रहीत कवि ही मूलतः उन की पसन्द के कारण एकत्र हुए थे। बल्कि सम्पादक महोदय स्वयं ही उस संग्रह में शायद इस कारण ही अधिक थे कि वह उस के प्रकाशन में प्रमुख रूप में सहायक हो रहे थे। साथ ही संग्रहीत कवि स्वयं भी किसी सामान्य साहित्यिक या अन्य मान्यताओं के कारण नहीं, बल्कि नितान्त व्यक्तिगत कारणों से, विशुद्ध परिस्थिति और संयोगवश, एक साथ थे। 'तार सप्तक' किसी भी रूप या अर्थ में किसी साहित्यिक आन्दोलन या प्रवृत्ति से प्रेरित न था। उस के कवि 'प्रयोगवादी' नहीं थे, शायद उस अर्थ में भी नहीं जो सम्पादक ने पहले अपनी भूमिका में उन पर आरोपित किया और जिसे फिर बाद में सैद्धान्तिक आधार दे दिया गया। उन की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों तत्कालीन सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों की स्वाभाविक और लगभग अनिवार्य परिणति थीं।

यहाँ तक भी शायद स्थिति में कहीं कोई झमेला नहीं है, यद्यपि 'तार सप्तक' की सम्पादकीय भूमिका उस में संग्रहीत कवियों की साहित्यिक स्थिति के लिए बहुत अच्छी नहीं सिद्ध हो सकी। किन्तु स्वाधीनता के बाद जब 'तार सप्तक' की ओर पाठकों-आलोचकों का ध्यान आकर्षित हुआ और उस की सम्भावनाओं को पहचान कर सम्पादक महोदय ने वैसे ही और भी संग्रह निकालने की योजना बनायी तो स्थिति ने एक नया ही मोड़ ले लिया। 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन से आलोचकों का यह भ्रम पूरी तरह बाक़ायदा प्रतिष्ठित हो गया कि सम्पादक

महोदय सचमुच 'प्रयोगवाद' नामक किसी नये काव्य-आन्दोलन के प्रवर्तक हैं।

'तार सप्तक' की सम्पादकीय भूमिका कुछ-एक सैद्धान्तिक उक्तियों के बावजूद मूलतः उन सात कवियों के एकत्र होने के कारणों का विवरण मात्र थी। पर बाद के दोनों 'सप्तकों' की भूमिकाओं में नियमित सिद्धान्त विवेचन हुआ और उन्होंने प्रायः घोषणा-पत्रों का रूप धारण कर लिया। 'दूसरा सप्तक' में सम्पादक महोदय ने 'तार सप्तक' के सभी कवियों की ओर से आलोचकों को जवाब देते हुए कहा :

"तो 'तार सप्तक' के कवि ऐसे कवि थे, जिन के बारे में कम-से-कम सम्पादक की यह धारणा थी कि उन में 'कुछ' है और वे पाठक के सामने लाये जाने के पात्र हैं.....।" 'तीसरा सप्तक' की भूमिका में "सप्तकों की योजना" के "आधारभूत विश्वास" की चर्चा के साथ उन्होंने कहा कि " 'तार सप्तक' एक नयी प्रवृत्ति का पैरवीकार माँगता था, इस से अधिक और कुछ नहीं।" 'तार सप्तक' के कवियों को एकत्र करने और 'पात्र' समझ कर उन्हें पाठकों के सामने लाने का यह मिथ्या दावा दम्भ न भी हो, पर इन कवियों के साथ सरासर अन्याय तो है ही। पर यह बात उस समय इस लिए विश्वसनीय लगी कि दूसरा और तीसरा 'सप्तक' सचमुच सम्पूर्णतः सम्पादक के प्रयत्न, संयोजन और उन की संगठनात्मक सामर्थ्य और पहल के फल थे। यह बात तब स्पष्ट न हो सकी कि जहाँ मूलतः 'तार सप्तक' के कवियों ने अपना सम्पादक, या कि कहें प्रकाशक, चुना था, वहाँ बाद के दोनों 'सप्तकों' के कवियों को सम्पादक ने चुना था। इन दोनों संग्रहों में कुछ-एक सर्वथा स्वतन्त्र, समर्थ और पूर्व-विकसित कवि-व्यक्तित्व सम्मिलित होने के बावजूद, इन संग्रहों के पीछे मूलतः उन के सम्पादक की साहित्य और काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं की प्रेरणा और अभिव्यक्ति थी। इन्होंने न केवल उपलब्ध नवीन काव्य का प्रकाशन किया बल्कि समकालीन काव्य के रूप को एक विशेष दिशा में मोड़ा। उन के कारण और परिणाम-स्वरूप बहुत से तरुण कवि जाने-अनजाने एक सामान्य किन्तु अस्पष्ट और अस्फुट काव्य-धारणा के इर्द-गिर्द एकत्र हो कर अन्य काव्याभिव्यक्तियों का विरोध अथवा उन से अपनी भिन्नता प्रकट करने की दिशा में प्रवृत्त हुए। सन् १९५० के बाद के नवीन हिन्दी काव्य के एक विशेष दिशा में मुड़ कर गुटबन्दी और संकीर्णता में पड़

जाने में 'सप्तकों' के प्रकाशन का भी बहुत-कुछ हाथ है। सन् १९५४–५५ के आस-पास तो तरुण कवियों के बीच चर्चा का सब से बड़ा विषय ही यह हो गया था कि कौन किस 'सप्तक' में लिया जायेगा, अथवा नहीं ही लिया जायेगा। कवि-गण अपनी और दूसरों की आधुनिकता, सार्थकता और सफलता, कवि होना या न होना, सभी कुछ 'सप्तकों' में शामिल होने-न-होने से आँकने लगे थे। यह परिस्थिति काव्यगत मूल्यों और रुचियों में एक विचित्र प्रकार की भ्रष्टता और संकीर्णता की शुरूआत थी। 'सप्तक' एक बड़े अवांछनीय प्रकार के साहित्यिक संरक्षण (पैट्रनेज) के साधन और प्रतीक बन रहे थे।

दुर्भाग्यवश 'तार सप्तक' भी इस दुश्चक्र की पहली कड़ी जैसा जान पड़ता था और निरन्तर पड़ता रहा है। उस के नये संस्करण के प्रकाशन पर यह कहना सर्वथा अप्रासंगिक नहीं है कि वास्तविकता यह नहीं थी। 'तार सप्तक' की स्थिति बाद के दोनों 'सप्तकों' से मौलिक रूप में भिन्न थी और वह किसी आन्दोलन या साहित्यिक संरक्षण वृत्ति की उपज नहीं था। 'तार सप्तक' के कवि न तो स्वयं ही किसी भी रूप में किसी भी अंश तक ऐसी किसी प्रवृत्ति से परिचालित हुए थे न वे किसी भी प्रकार से सम्पादक के ही वैचारिक, सैद्धान्तिक अथवा संगठनात्मक प्रयत्नों के अंग थे, चाहे फिर व्यक्तिगत स्तर पर उन से कवियों की कितनी ही घनिष्ठता क्यों न रही हो। महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं कि 'तार सप्तक' के प्रायः सभी कवि एक-दूसरों के कुत्तों और मित्रों पर हँसते थे बल्कि यह कि उन का कोई दल नहीं था, कोई गुट नहीं था– और आज भी नहीं है। उन की उपलब्धि चाहे जो हो, पर वे स्वतन्त्र रूप में ही अपने काव्य का पथ खोजते और बनाते रहे हैं।

यह सब कहना आज इस लिए और भी आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण हो गया है क्योंकि हिन्दी में संरक्षण, विशेषकर साहित्यिक संरक्षण का बाज़ार बड़ा गरम है—पुरानी पीढ़ी में भी और नयी में भी। मेरा विश्वास है कि यह हमारे साहित्यिक जीवन के लिए शुभ और स्वस्थ नहीं है। यह न केवल नितान्त व्यक्तिगत स्तर की दलबन्दी और गुटबाज़ी को उकसाता है बल्कि उस के कारण तरुण रचनाकार प्रतिभावान् हो कर भी जीवन को सीधे देखने, भोगने और उस अनुभूति को अपने प्रति निर्मम ईमानदारी से वाणी देने के बजाय किसी-न-किसी संरक्षण को तलाश करने लगता है—

राजनीतिक दल की, साहित्यिक नेताओं की, अथवा प्रकाशकीय कृपा की। यह स्थिति रचनाकार को कभी वयस्क नहीं होने देती। मैं मानता हूँ कि कवि को अपने सिवाय किसी का प्रवक्ता नहीं होना चाहिए। प्रकाशन की, प्रशंसा की, अथवा अन्य किसी भी प्रकार की सुविधा के लिए उसे अपनी वफ़ादारी का सौदा नहीं करना चाहिए। केवल अपने प्रति सच्चा रह कर ही सम्भव है कि किसी क्षण में वह किसी बृहत्तर सत्य से साक्षात्कार कर के उस का प्रवक्ता भी बन सके। अन्यथा प्रचार और विज्ञापन की प्रधानता के इस युग में सम्भावना इसी बात की अधिक है कि वह किन्हीं-न-किन्हीं प्रकट या अप्रकट शक्तियों या व्यक्तियों का साधन मात्र बना रह जाये और दूसरों की जूठन को ही मौलिक अनुभूति समझ कर और भाँति-भाँति से सजा-सँवार कर पेश करता रहे। व्यक्तित्व के स्तर पर कविता ही नहीं, समस्त सर्जनात्मक कार्य का यह एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिस की उपेक्षा घातक सिद्ध हो सकती है।

—नेमिचन्द्र जैन

आज फिर जब तुम से सामना हुआ

कितने दिनों बाद आज फिर जब
तुम से सामना हुआ
उस भीड़ में अकस्मात्,
जहाँ इस की कोई आशंका न थी,
तो मैं कैसा अचकचा गया
रँगे हाथ पकड़े गये चोर की भाँति।
तुरत अपनी घोर अकृतज्ञता का
भान हुआ
लज्जा से मस्तक झुक गया अपने-आप।
याद पड़ा तुम ने ही दिया था
वह बोध,
जो प्यार के उलझे हुए धागों को
धीरज और ममता से सँवारता है,
दी थी वह करुणा
जिस के सहारे
आत्मीयों के असह्य आघात सहे जाते हैं,
सह्य हो जाते हैं—
और वह अकुण्ठित विश्वास
कि जीवन में केवल प्रवंचना ही नहीं है
अन्तर की अकिंचनताएँ प्रतिष्ठित
सहयोगियों की कुटिलता ही नहीं है,
किसी क्षणिक सिद्धि के दम्भ में
शिखर की छाती कुचलने को उद्यत
बौनों का अहंकार ही नहीं है—
जीवन में और भी कुछ है।

तुम्हारी ही दी हुई थी
वह अनन्य अनुभूति
कि वर्षा की पहली बौछार से
सिर-चढ़ी धूल के दबते ही
खुली निखरने वाली
आकाश की शान्तिदायिनी अगाध नीलिमा,
वर्षों बाद अचानक
अकारण ही मिला
किसी की अम्लान मित्रता का सन्देश,
दूर रह कर भी साथ-साथ एक ही दिशा में
चलते हुए सहकर्मियों का आश्वासन—
ये सब भी तो जीवन में हैं,
तुम ने कहा था ।

यह सब,
न जाने और क्या-क्या
मुझे याद आया,
और एक अपूर्व शान्ति से
परिपूर्ण हो गया मैं,
जब आज
अचानक ही भीड़ में
इतने दिनों बाद
तुम से यों सामना हो गया
ओ मेरे एकान्त !

• •

३

भारतभूषण अग्रवाल

[illegible]

[illegible]

[अग्रवाल, भारतभूषण : जन्म अगस्त १९१९ में, मथुरा में; शिक्षा मथुरा, चन्दौसी और आगरा में पायी। सन् १९४१ में एम० ए० पास किया। सन् १९४३ में विवाह हुआ। "सन् १९४१ में अचानक कलकत्ते आ टपका और तब से इस महानगरी के विशाल जाल में फँसा हूँ—नौकरी के चक्कर में।"

कविता, कहानी, नाटक, व्यंग्य लिखते हैं। प्रकाशित रचनाओं में दो कविता-संग्रह और एक एकांकी है। "तुक के चमत्कार ने मुझे कविता की ओर आकर्षित किया और शुरू में गुणा-भाग की तरह कविता लिखी—गिन-गिन-कर।" इस के बाद भी लिखते रहे, इसे सोहबत का असर बताते हैं "जो कि अब दूर होता जा रहा है।"

"शौक़ दो ही चीज़ों का—सिनेमा और सिगरेट। आजकल राजनीति का अध्ययन अच्छा लगता है। मार्क्सवाद को आज के समाज के लिए रामबाण मानता हूँ। कम्युनिस्ट हूँ।"

१९४३ से—

"आज कम्युनिस्ट नहीं हूँ। यही नहीं, अब तो लगता है कि जब कहता था तब भी नहीं था।" महानगरी के विशाल जाल में "एक फाँक पा कर जो भागा तो हाथरस की तलैया में जा पड़ा। मिल में काम, उसी में रहना, दिन में मिल-मालिक का हुकुम बजाना और रात में साम्यवादी साहित्य लिखना-पढ़ना।" तीन साल मिल की नौकरी के बाद 'प्रतीक' में इलाहाबाद; फिर 'आकाशवाणी' में। "कहावती बारह वर्ष बीतने के बाद" वहाँ से मुक्ति पा कर साहित्य अकादेमी में सहायक मन्त्री हैं।

"लिखने में सोहबत का असर सदा रंग लाता रहा। मिल में रहते ब्याह-शादियों के क़सीदे भी लिखे थे, तो रेडियो में रहते नाटक और रूपक भी। 'तुक्तकों' का प्रारम्भ भी मिल में ही हुआ था। अकादेमी में रहते हुए पहला उपन्यास 'लौटती लहर की बाँसुरी' लिखा।"

"कविता-संग्रह 'जागते रहो' के बाद कलकत्ता छोड़ा था (१९४५), 'मुक्ति-मार्ग' के बाद हाथरस (१९४८), और 'ओ अप्रस्तुत मन' के बाद आकाशवाणी (१९६०)। नया कविता-संग्रह छपाते डर रहा हूँ कि कहीं अकादेमी न छूट जाये। पर कब तक डरूँगा ?" (यह संग्रह भी छप गया है–'अनुपस्थित लोग'।)]

वक्तव्य

स्कूल की प्रारम्भिक कक्षाओं में दूसरों के पद्यों को कण्ठस्थ कर उन की आवृत्ति करने ने ही सम्भवतः मुझे कविता की ओर प्रेरित किया; और क्योंकि 'तुक' के कारण कण्ठस्थ करने में सुविधा होती थी, इस लिए अनजाने में ही तुक को मैं महत्त्वपूर्ण मानने लग गया। फल यह हुआ कि कुछ ही दिनों में मैं तुकबन्दी करने लग गया, ज़िन में जो न्यूनाधिक भाव होते थे वे सब उधार-खाते, विन्यास मेरा अपना। और ग़लत और तुक या कमज़ोर तुक की कविता को रद्दी कविता मानने की मेरी आदत तो बहुत दिनों तक बनी रही।

स्कूल की मीटिंगों में, और उत्सव-आयोजनादि में मुझे पद्य-आवृत्ति का जो यह कार्य करना पड़ा, उसी ने मुझ से कविता लिखायी। "यह मेरी लिखी नहीं है" कहते-कहते मैं इतना तंग आ गया कि मेरे अचेतन ने निश्चय ही अपने को इस गुण-गौरव से विभूषित करना चाहा। इसी लिए मैं ने प्रारम्भ में केवल सामयिक अवसर, त्यौहार-पर्व, आदि के उपयुक्त कविताएँ ही लिखीं। और दूसरों की प्रशंसा का लोभ ही मेरे काव्य की आदि प्रेरणा थी। तब कविता लिखने में जो तकलीफ़ मुझे होती थी उस को कुछ-कुछ इम्तहान में प्रश्नोत्तर लिखने की तकलीफ़ की तरह मैं लेता था जिस का फल मीठा और आनन्ददायक होता है। मेरी शुरू की इन रचनाओं में, जिन्हें आज पढ़ने पर हँसी आती है, मैथिलीशरण गुप्त की उपदेशात्मक शैली का प्रभाव बहुत है। क्योंकि एक ओर उस का अनुकरण जितना आसान है, दूसरी ओर श्रोताओं को अनायास समझना भी उतना ही।

इस प्रकार अभ्यास करते-करते तुक और छन्दों पर वश प्राप्त कर लेने के बाद जब मैं कॉलेज में पहुँचा, तभी धीरे-धीरे मेरी कविताओं में अपनी बात आने लगी। दूसरों की चार कविताएँ पढ़ लेने के बाद अपनी एक लिख लेने की रीति को छोड़ अब मैं उन बातों को कहने की क्षमता और साहस पा सका जिन्हें मैं स्वयं अनुभव करता था। और फिर एक ओर अपनी अति-भावुक प्रकृति के, दूसरी ओर हिन्दी साहित्य से विशेष मोह के, तीसरी ओर कवि होने की अपनी विशेषता के गौरव और दम्भ के और चौथी ओर कविता में एक अजीब शान्ति पाने के कारण मैं ने काफ़ी कविताएँ लिखीं, जिन में से अधिकांश लिखने के लिए ही लिखी गयी थीं।

और आज जब मेरा काव्य-लेखन काफ़ी कम हो गया है, और मैं 'कला कला के लिए' की प्रवंचना के मूल कारण को समझ पाया हूँ, साथ ही उस के उचित उपयोग को भी, तब यह बात स्वीकार किये बिना मैं नहीं रह सकता कि मेरी ये कविताएँ मेरे लिए केवल एक पलायन ही नहीं, वरन् एक स्वप्नलोक भी थीं जहाँ मैं ने अपनी समस्याओं से भाग कर केवल शरण ही नहीं ली, वरन् साथ ही असामाजिक नुकीले व्यक्तित्व-द्वारा उत्पन्न अपनी असम्भव इच्छाओं की पूर्ति भी देखी। इसी लिए मुझे अपनी कविता पर इतनी मोह-ममता रही, और इसी लिए मैं उन को अपनी सम्पत्ति मानता रहा।

आज की सामाजिक व्यवस्था और उस की आधारगत आर्थिक व्यवस्था एक मध्य-वर्ग के नवयुवक को अप्राकृतिक रूप से महत्त्वाकांक्षी और स्वप्नाभिलाषी बना देती है, क्योंकि एक ओर तो वह अपने स्कूल और कॉलेज में पढ़ायी जाने वाली पाठ्य-पुस्तकों से अपने-आप को महान् व्यक्ति (इण्डिविजुअॅल) बनाने की सोचता है, और दूसरी ओर ऊपर के वर्ग की ऐश्वर्यशालीनता उसे सहज ही आकर्षित करती है। और जो अतिभावुक होता है वह अभिलाषाओं का शिकार हो कर सौन्दर्य का भूखा, कल्पना के लड्डू खाने वाला रंगीन कवि हुए बिना नहीं रह सकता।

अपने अनुभव से मैं, इसी लिए, यह बात ज़ोर दे कर कहना चाहता हूँ कि कम-से-कम मुझे मेरी कविता ने भावों का उत्थान (सब्लिमेशन) नहीं दिया, न उस ने मेरे हृदय का परिष्कार किया। दूषित समाज ने मुझे जो असामाजिक कमज़ोरियाँ और गलित स्वार्थ दान में दिये, मेरी

कविता ने उन्हीं की पीठ ठोकी। संसार को सच्चा मान कर उस में कर्म करना क्योंकि वास्तविक क्षमता और सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है, इसी लिए मैं ने कविताएँ लिख कर मानो स्वप्न में अपनी अभिलाषाएँ पूरी कीं और संसार को मिथ्या सिद्ध किया। कर्म से पलायन ही मेरी कविताओं का स्पन्दन रहा। व्यक्तित्व के वे सारे डंक जो दूसरों को काटने दौड़ते हैं, समाज में रहने-सहने से टूट जाते हैं; लेकिन इस पलायन का फल यह हुआ कि मैं ने उन्हीं के विष को अमृत समझा। आज का हिन्दी कवि इतना दम्भी, अकर्मण्य और असामाजिक व्यक्ति क्यों होता है यह मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया है।

और इसी लिए, यदि कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्वर देना और उस को शुभ बनाने में सहायता करना है, तो हिन्दी के कवि को समाज से नाराज़ हो कर भागने की बजाय समाज की उस शोषण-सत्ता से लड़ना होगा जिस ने उस को कोरा स्वप्नाभिलाषी और कल्पना-विलासी बना छोड़ा है, और जिस ने उस को अपनी कविता को ही एकमात्र सम्पत्ति मानने के भ्रम में डाला है। इस संघर्ष के पथ पर के अपने अनुभवों को यदि वह पद्य-बद्ध करेगा तो पायेगा कि उस की कविता केवल मर्म-स्पर्शी और सशक्त ही नहीं वरन् साथ ही उस को अधिक ज्ञानी और सामाजिक बनाने वाली भी है। तब कविता उस के हाथ में एक मूल्यवान् अस्त्र की भाँति होगी, आज की तरह अपार्थिव अस्तित्वहीन फूलों की सेज नहीं।

—भारतभूषण अग्रवाल

अपने कवि से

: १ :

कितनी संकुचित जीर्ण, वृद्धा हो गयी आज कवि की भाषा !
कितने प्रत्यावर्तन जीवन में चंचल लहरों के समान
आये, बह गये; काल बुद्बुद-सा उठा, मिटा, पर परम्परा—
अभिभुक्त अभी परिवर्तित हुई न परिभाषा
रूप की, व्यक्ति की। नव-विचार, नव-ज्ञान-रीति,
नित-नित नवीन जीवन के स्वर, पर प्राचीना
अब भी है वाणी की वीणा। कुछ अनुभव करते प्राण
किन्तु अभिव्यक्ति अन्य ही कुछ देती है उसे गिरा।
इस भाँति आज कवि के अतिशय उत्कट विचार, सुख-दुख-प्रतीति
रह जाते हैं कल्पना-मात्र। सब बन्धन से दुष्कर बन्धन
है शब्दों का, जो नहीं निकट आने देता कवि एवं उस की आत्मपूर्ति
को जग के भौतिक सत्यों के; छाया के सदृश अर्थहीना
करता है उस की वाणी को। कैसी विडम्बना ! स्थिर साधन
यद्यपि चिर-गतिमय साध्य ! देवता बदल गये, बदली न मूर्ति !

: २ :

कवि ! तोड़ो अपना शब्द-जाल, जो आज खोखला, शून्य हुआ
यह है अपने पुरखों की वैभव-भोगमयी कलुषित वाणी,
मदमत्त, विलासिनि ! त्याग इसे ! बनना है तुझ को तो अगुआ
युग का, युग की भूखी, कमज़ोर हड्डियों का, जिन का पानी
है उठा खौल, घिर रहा विश्व पर घटाटोप बादल बन कर।

बज नहीं सकेगा तेरी इस मधु की वंशी पर इन का स्वर
गर्जना-भरा। सड़ गयी आज यह गिरा अबल, घिस गयी व्यक्ति
छवि-कनक-प्रवालों के जालों में खो बैठी यह आत्म-शक्ति :
युग के मानव के सुख-दुख, आशा-प्रत्याशा का प्रतिनिधित्व
इस के कण्ठ से नहीं सम्भव। यह सदा स्वर्ग-वासिनी रही
अप्सरा बनी। जाने दे इस को स्वर्ग, खोज ले आज मही
अपनी मिट्टी के पुतलों के शब्दों में ही अपना कवित्व;
हम को न ज़रूरत आज देव-वाणी की, हम ख़ुद ढालेंगे
जीवन की भट्ठी में भाषा, जी-चाहा रूप बना लेंगे।

: ३ :

इस छायामय भाषा ने कर डाला असत्य, अपदार्थ, हीन,
तेरे लघु-जीवन का था जो एकान्त सत्य—तेरे विचार
में केवल जो था सार—वही तेरा प्रेयसि के लिए प्यार।
तू भूल गया, अज्ञान! रूप है मांस, रक्त, मृत्तिकाधीन
शब्दाडम्बर-चक्र में भ्रान्त। अप्सरा बना डाली तू ने
षोडश-वर्षीया रूपवती वह पढ़ी-लिखी लड़की। पागल!
तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल।
तू सोचा किया : भाव-वाचक है तत्त्व—शून्य, जिस को छूने
की भी चेष्टा है व्यर्थ! दूर यों भाग गया तू जीवन से
तू सदा सोचता रहा : 'मुक्त हो जाऊँ जग के बन्धन से
उड़ कर दिगन्त के पार'। सृष्टि को पाया तू ने क्षण-भंगुर
निज दिव्य-दृष्टि से। रे! तेरी यह भाषा तो है मात्र-मुकुर,
उस दर्शन का जिस ने देखा बस आसमान थोथा-नीला;
नश्वरता से डर कर जिस ने देखी न प्रकृति चिर-गतिशीला।

जीवन-धारा

सघन बर्फ़ की कड़ी पर्त-सी
एक-एक कर अमित रूढ़ियाँ
सदियों से जमती जाती हैं
तह पर तह
मानव-जीवन पर।
तह पर तह—
ये आज ठोस दीवार बनीं
हैं रोक रही जीवन की गति
मन की उन्नति।
अवरुद्ध आज जीवन-धारा—
युग-युग से प्रचलित भय-निर्मित
इन अमित रूढ़ियों की कारा ने
बाँध लिया मानव का मन,
जग का जीवन।
आगे बढ़ने में विफल, व्यर्थ
असमर्थ
आज जग-जीवन की सरिता का जल
हो कर बेकल
है फोड़-फोड़ निकला बाहर
दोनों कूलों के इधर-उधर
रसमय वसुधा के अंचल को
कर के दलदल।
अवरुद्ध आज जीवन-प्रवाह।
जड़ता की ज़ंजीरों में जकड़ा भीत हृदय
हिम-शीत मृत्यु के क्षुण्ण-स्पर्श से

आज बना निर्जीव,
न उस में शक्ति कि कर भी ले वह कुछ चीत्कार-आह !
सब ओर आज गतिहीन शान्ति, निष्प्राण मौन,
अस्वस्थ धरा, अवरुद्ध वायु, निस्तेज गगन
गँदला, अशुद्ध जग का जीवन।
जग की रग-रग में जमा हुआ हेमन्त-शीत,
पतझार-पीत !
पर भय क्या है !—अब देर नहीं
हम अग्नि-शिखा प्रज्वलित करेंगे
जिस के सम्मुख एक बार ही
गल-गल पिघल जायँगे सारे हिम के प्रस्तर।
एक बार फिर
जीवन पायेगा अपनी उन्मुक्त धार, निर्बन्ध प्रगति
टूटेंगे गति के पथ में आये रूढ़िग्रस्त मानव के मन के भाव-बन्ध
फिर से समस्त जग में छायेगा नव-प्रकाश,
नव-नवोल्लास, नव-गीत-छन्द।
फिर एक बार,
हिम क़ी कारा को तोड़-फोड़।
अक्षय, प्रशस्त, जीवन-धारा
वसुधा की चौड़ी छाती पर
सत्त्वर,
अमन्द,
बह पायेगी मग सरसाती
कल-कल गाती।
फिर भय क्या है !—अब देर नहीं
हम लाते हैं वह वह्नि-तेज
जिस के स्फुलिंग की ज्योति-बिन्दु से
मिट जायेगा हेमन्त शीत
मिट जायेगी इस कड़वी जड़ता की सड़ाँध
हम देख रहे टकटकी बाँध—
उग रहा पूर्व में नवालोक, अभिनव वसन्त।
अब देर नहीं—

विकसित हो कर जग का शतदल
खोलेगा अपनी मुँदी आँख।
जागृति की किरणों से ज्योतित
होगा अशेष जग का प्रांगण;
सौरभ से पूरित दिग्-दिगन्त।

सीमाएँ : आत्म-स्वीकृति

है श्रान्त तन, है क्लान्त मन, मैं आज हूँ निष्प्राण।
आगे बिछी है राह
जानता हूँ : यही है वह पथ कि जिस पर मिल सकेगी मुक्ति
मेरी और सब की मुक्ति;
जानता हूँ : यही है वह पथ कि जिस तक पहुँचने की
थी हृदय में चाह
जी में था अतुल उत्साह।
कड़ा कर के जी, कमर कस, चल पड़ा था उस दिवस अम्लान
वंचितों के स्वत्व-संगर में चढ़ाने एक निज का दान
सोचता था : अब हुआ जीवन सफल, अब मिट गया अँधियार
छूटे अब हमारे बन्ध
तन के और मन के बन्ध
सोचता था : क्षुद्र मन के स्वार्थ पर ही था विगत आधार
मैं था मूढ़, मैं था अन्ध।
यों तोड़ नाते, छोड़ चिन्ता, एक निश्चय की सँभाले टेक
मैं चला बनने अनेकों सैनिकों में एक।

तब नहीं मैं जान पाया था—कठिन है राह यह कितनी,
तब नहीं मैं जान पाया था—क्षणिक है स्फूर्ति यह इतनी!
आज है अचरज यही अत्यन्त
उस महा आरम्भ का हा! क्षुद्र ऐसा अन्त!
दूर है, मंज़िल अभी मेरी बड़ी ही दूर
किन्तु मैं तो बीच में ही आज थक कर चूर
गिर पड़ा हूँ राह पर।
जा रहे हैं साथ के वर-वीर कसे-कमर

किन्तु मैं अपने निजी कुछ मोह में, कुछ मूर्खं आशा में
इस अपूर्ण, अशक्त मन की स्वाभिलाषा में
अटक कर के रह गया हूँ स्वयं अपने जाल में
वर्गवादी हृदय के कटु व्यूह अति विकराल में
आज पहली बार मुझ को मिल सका है ज्ञान मन की परिधि का
असहाय सीमाबद्ध अपनी शक्ति का।
शक्ति : जो यों चाहती है फैल जाये विश्व-भर की सर्वनाशा
अपहरण की नींव पर
किन्तु सीमा में बँधी, आकुल-घिरी, पथहारिणी बन कर
फूट पाती है नहीं
ढूँढ़ पाती है नहीं निज राह।
मानता हूँ—सभी सीमाएँ सदा मन-जात
किन्तु मन क्या मुक्त है, उस पर नहीं क्या अपर बन्धन ?
जन्म जिस परिवार में मैं ने लिया है,
जिस तरह की परिस्थितियों से यहाँ तक आ सकी है
ज़िन्दगी की सड़क मेरी
घूमती-फिरती अनेकों मोड़ पर से काटती चक्कर
उन
परिस्थितियों का पिता है वर्ग और समाज पूँजी का,
और, मेरे विकल मन की सभी सीमाएँ
वहीं से निःसृत हुई हैं।

मंसूरी के प्रति

१

माना : असत्य, कल्पना-मात्र परलोक; किन्तु री मंसूरी !
तू सत्य स्वर्ग इस वसुधा पर। तेरे अंचल की छाँह तले
पलते हैं देव-तुल्य नर-गण। विमलों की पुरी, अये विमले !
कब लाँघ सका यह पापी, काला नर-समाज तेरी दूरी ?
तेरा पथ है अत्यन्त अगम। विरले ही जन जा पाते हैं
स्वर्ण की सीढ़ियों पर चढ़ कर। वह देख उधर, वे आते हैं
दो-चार क़ुली—पृथ्वी की हत-भागिनि निरीह सन्तान—
अबल कन्धों पर भार वहन करते। ये ही हैं वे सोपान
सचर जिन पर पग धर, वैभव के मद में झूम, चढ़े
तुझ तक आया करते हैं तेरे वरद पुत्र, तब वन्दनार्थ
तल-प्रान्तों की उत्तप्त यातना से बच कर। कैसे वे चांदी के टुकड़े !
जो दुख को अपने परस-मात्र से सुख में करते परिवर्तित,
जिन का अभाव इन मर्त्य-लोक के वासी दोनों को वशार्त
रखता है रौरव की लू में, जीवन-भर ज्वाला में पीड़ित।

२

मैं ने अपनी आँखों देखे हैं वे बादल जो चरणों में
आनत, प्रतिपल शीतल करते रहते हैं तेरे प्रांगण को
जब झुलस रहा होता है निर्धन जग प्रलयंकर लपटों में,
जो तल के नद-सागर के जल के कण-कण का शोषण कर के
तुझ पटरानी का करते हैं अभिषेक। रम्य-रस-वसना उस रमणी-गण को
मैं ने देखा है, जो गाती रहती हैं कल-कल निर्झर के

स्वर में अपना स्वर डुबा, हुलास-विलासों में भर-भर मस्ती,
जब चीख़ा करती है क्षुधार्त नीचे मैदानों की बस्ती।
हाँ, मैं ने अपनी आँखों देखा है विभेद यह, यह विरोध
जो साधारण घटना है अपनी पूँजीवाद-प्रणाली की,
जो है तेरा आधार-स्तम्भ, जिस का विनाश दो दिन ही की
है बात, यातना ने जिस की विश्व को दिया है नया बोध।
आज के मदिर सुख में, रंगीनी में भूली ओ री अलका!
कुछ तुझे ध्यान भी है कल का, शोषित दल के उठते बल का?

अहिंसा

खाना खा कर कमरे में बिस्तर पर लेटा
सोच रहा था मैं मन ही मन : 'हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है, जो लड़ता है तुच्छ-क्षुद्र मिट्टी के कारण
क्षणभंगुर ही तो है रे ! यह सब वैभव-धन ।
अन्त लगेगा हाथ न कुछ, दो दिन का मेला ।
लिखूँ एक ख़त, हो जा गान्धी जी का चेला
वे तुझ को बतलायेंगे आतमा की सत्ता
होगी प्रकट अहिंसा की तब पूर्ण महत्ता ।
कुछ भी तो है नहीं धरा दुनिया के अन्दर ।'

× × ×

छत पर से पत्नी चिल्लायी : "दौड़ो, बन्दर !"

फूटा प्रभात…

फूटा प्रभात, फूटा विहान,
बह चले रश्मि के प्राण, विहग के गान, मधुर निर्झर के स्वर
झर-झर, झर-झर।
प्राची का यह अरुणाभ क्षितिज,
मानो अम्बर की सरसी में
फूला कोई रक्तिम गुलाब, रक्तिम सरसिज।
धीरे-धीरे,
लो, फैल चली आलोक रेख
घुल गया तिमिर, बह गयी निशा;
चहुँ ओर देख,
धुल रही विभा, विमलाभ कान्ति।
अब दिशा-दिशा
सस्मित,
विस्मित,
खुल गये द्वार, हँस रही उषा।

खुल गये द्वार, दृग् खुले कण्ठ,
खुल गये मुकुल
शतदल के शीतल कोषों से निकला मधुकर गुंजार लिये
खुल गये बन्ध, छवि के बन्धन।

जागो जगती के सुप्त बाल!
पलकों की पंखुरियाँ खोलो, खोलो मधुकर के अलस बन्ध
दृग् भर
समेट तो लो यह श्री, यह कान्ति

बही आती दिगन्त से यह छवि की सरिता अमन्द
झर-झर, झर-झर।

फूटा प्रभात, फूटा विहान,
छूटे दिनकर के शर ज्यों छवि के वह्नि-बाण
(केशर-फूलों के प्रखर बाण)
आलोकित जिन से धरा
प्रस्फुटित पुष्पों के प्रज्वलित दीप,
लौ-भरे सीप।

फूटीं किरणें ज्यों वह्नि-बाण, ज्यों ज्योति-शल्य,
तरु-वन में जिन से लगी आग।
लहरों के गीले गाल, चमकते ज्यों प्रवाल,
अनुराग-लाल।

प्रत्यावर्तन

सचमुच मेरे मन में है यह विस्मय अपार :
किस भाँति लौट कर आ जाती हो बार-बार
तुम मेरे जीवन में, ओ गीतों की प्रतिमे !
मैं खो-खो कर भी पा जाता हूँ प्रति दिशि में
तेरे चरणों की चपल चाप। जब-जब कठोर
होने का निश्चय कर मैं बरबस मुसका कर
तुम से कहता हूँ : 'आज विदा आखिरी, प्राण !'
तुम व्यथाशून्य अपने नयनों की सजल कोर
से जैसे लिख देती हो अपना प्यार अमर,
तुम जैसे कह देती हो : 'ओ ! मेरे अजान !!
यह सब किस से, जिस का है तेरे सपनों पर
चिर आधिपत्य ?' मैं आज समझ पाया हूँ यह
जिस सहज भाव से अनायास ही तुम प्रत्यह
मुझ को करने देती हो अपना मुक्तियास
उस में रहता है निहित तुम्हारा अविश्वास
मेरी क्षमता पर, मेरे प्राणों के बल पर।

है आज भरा मेरे मन में सचमुच विस्मय।
क्या तेरा सम्मोहन है इतना ही अटूट ?
क्या मेरे जी में है इतना ही प्रबल प्रणय ?
क्या सचमुच ही तेरी आभा के क्षुद्र-बिन्दु
में बन्दी है मधु का समुद्र, स्नेह का सिन्धु
जो मेरे अनजाने में ही प्राण में फूट
लाता है मुझ को बहा-बहा तेरे तट तक ?
मैं विस्मित हूँ : आकर्षण का वह लघु अंकुर

किस भाँति अचानक आज बन गया अमरलता
आच्छादित कर के प्राणों को ? बतलाओ मेरी निर्बलता।
किस पावक से जल उठते हैं वे आर्द्र-पलक
जब डूबा रहता है सुधि-तम में अन्त:पुर ?
किस दैव योग के मधु-विधान-सी तुम पथ में
चौंका देती हो मुझ को फिर-फिर, दृग् भर-भर ?
री ! बोलो, किस स्वर्गीय गान के मधुमय स्वर
ने गूँथ लिया है अनायास लय बना हमें ?

मिलन

छलक कर आयी न पलकों पर विगत पहचान,
मुस्करा पाया न ओठों पर प्रणय का गान;
ज्यों जुड़ीं आँखें, मुड़ीं तुम, चल पड़ा मैं मूक—
इस मिलन से और भी पीड़ित हुए ये प्राण।

बिदा वेला

पाया सनेह, पा सकीं न पर तुम अभी बिदा-रीति का ज्ञान
पगली ! बिछोह की वेला में बिन माँगे ही प्रीति का दान
दो मुझे । कहो इस अन्तिम पल में एक बार 'प्रियतम' धीमे
पूछो : 'कब लौटोगे, वसन्त में ? वर्षा में ? शारद-श्री में ?
शीत की शर्वरी में ?' सरले ! मत रह जाओ नतमुख उदास
लाज से दबी । कल जब यह पल होगा अतीत, तब अनायास
मुखरित होगी यह नीरवता, बन व्यथा, वियोगी प्राणों में
तब तुम सोचोगी बार-बार : 'क्यों आँसू में, मुस्कानों में
दुख-सुख की उस अद्वितीय घड़ी को किया न मैं ने अमर ?'
प्रिये !
यह कसक तुम्हें कलपायेगी : 'क्यों मैं ने प्रिय को अश्रुपिये
नयनों से नहला दिया न, संचित किया न क्यों कुछ आश्वासन
इस विरह-काल के लिए हाय ! भर आलिंगन, पा कर चुम्बन!'

चलते-चलते

मैं चाह रहा हूँ, गाऊँ केवल एक गान, आखिरी समय
पर जी में गीतों की भीड़ लगी
मैं चाह रहा हूँ, बस, बुझ जायें यहीं प्राण, रुक जाय हृदय
पर साँसों में तेरी प्रीति जगी
इस लिए मौन ही जाता हूँ, स्वीकार करो यह बिदा
आज आखिरी बार;
मत समझो मेरी नीरवता को व्यथा-जात
या मेरा निज पर अनाचार।
मैं आज बिछुड़ कर भी सचमुच ही सुखी हुआ मेरी रानी !
इतना विश्वास करो मुझ पर
मैं सुखी हूँ कि तुम ने अपनी नारी-जन सुलभ चातुरी से
बिखरा दी मेरी नादानी
पानी-पानी कर के सत्वर
मैं सुखी हूँ कि इस बिदा-समय भी नहीं नयन गीले तेरे,
मैं सुखी हूँ कि तुम ने न बँटाये कभी अलभ्य स्वप्न मेरे,
मैं सुखी हूँ कि कर सकीं मुझे तुम निर्वासित यों अनायास,
मैं सुखी हूँ कि मेरा प्रमाद बन सका नहीं तेरा विलास।
मैं सुखी हूँ कि—पर रहने दो, तुम बस इतना ही जानो
मैं हूँ आज सुखी,
अन्तिम बिछोह, दो बिदा आज आखिरी बार ओ इन्दुमुखी !

प्रत्यूष वेला

प्रात की प्रत्यूष वेला—
रात के घनघोर, काले क्षणों के उपरान्त की यह शान्त वेला
अभी मीठी नींद की सुधि शेष है मेरे दृगों में
और सपनों की मधुरिमा से रँगा है फूल-सा मन
सहज, हलका।
कवि-प्रिया का सलज अंचल ज्यों बिछा है प्राण पर अब भी
दूर जिस के देश में अटके हुए हैं आज भी जो भाव मेरे
तिमिर के मोहन-असंयम में लगाते हैं विकल फेरे
जिस प्रतनु के अलक के चहुँ ओर
जिस सलोनी कामिनी के पलक में बस बुला देते हैं विसुध तन्द्रा
सुला देते हैं पिया सी पिया से गुँथ, एक होने की
पिया के साथ सोने की
सुनहली चाह।
वही कविता-कल्पना चिर-साध जीवन की
वही अंचल परस जिस का वरद पारस-सा
और वे ही मधु-भरे लघु-भाव
जो रहे हैं ज्यों अभी मेरी अतार्किक दृष्टि में।
सृष्टि में
इसी से तो अभी कोलाहल नहीं रवमान
सभी जैसे कर्म का आह्वान
अरुण की नवजात किरणें दे न पायी हों जगत् को।
क्षणिक, मीठी अटपटी यह सुखद वेला
रात के उन दीर्घ, कम्पित, भय-भरे ऊबे पलों से
है नितान्त विभिन्न।

जागते रहो !

डूबता दिन, भोगतो-सो शाम
बन्द कर दो कान,
लो विश्राम ।

यह तिमिर की शाल
ओढ़ लो वसुधे ! न सिकुड़े शीत से यह लाल,
जग का बाल ।

वलय की खनकार,
दीप बालो रो सुहागिनि ! जग उठे गृह-द्वार
बन्दनवार ।

किन्तु साथी ! देख,
हम न सोयेंगे, हमारा कार्य है अवशिष्ट
अपनी प्रगति का अब भी अधूरा लेख ।
जागरण, चिर जागरण ही है हमारा इष्ट !

लो, क्षितिज के पास—
वह उठा तारा, अरे ! वह लाल तारा, नयन का तारा हमारा
सर्वहारा का सहारा
विजय का विश्वास ।

पथ-हीन

कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल-अधीरातुर बटोही यों पुकारा :
'कौन सा पथ है ?'

'महाजन जिस ओर जायें'—शास्त्र हुंकारा
'अन्तरात्मा ले चले जिस ओर'—बोला न्याय पण्डित
'साथ आओ सर्व-साधारण जनों के'—क्रान्ति-वाणी ।

पर महाजन-मार्ग-गमनोचित न सम्बल है, न रथ है,
अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित,
क्रान्ति-गति-अनुसरण-योग्या है न पद-सामर्थ्य ।

कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल-अधीरातुर बटोही यों पुकारा :
'कौन-सा पथ है ?'

पुनश्च

पर नहीं, कविता अस्त्र नहीं है—न मूल्यवान्, न अमूल्य। कविता को अस्त्र मान कर चला ही था (जागते रहो) कि मैं स्वयं अस्त्र बन गया, और मेरी कविता ऐसी यन्त्र-लिपि कि उस में अपने मन का स्पन्दन सुनाई ही नहीं पड़ता था। आज यह वात कहने में बड़ी हलकी और आसान लगती है, पर जिन प्रतिश्रुतियों की माया में पड़ कर मैं इस अगति को (या दुर्गति को) प्राप्त हुआ था वे इतनी विकट थीं, और एक बार उस डगर पर दो क़दम चल पड़ने के बाद पीछे लौटने में व्यर्थता का ऐसा विचित्र भाव जगता था कि एक प्रकार से मेरी कविता का स्रोत ही सूख चला। फिर साहस कर किसी तरह उस जुलूस से अपने को अलग किया, रास्ते की एक पुलिया पर बैठ कर दृश्य का सर्वेक्षण किया (मुक्तिमार्ग) और अपनी एक निराली पगडण्डी निकाल कर काव्य के प्रशस्त पथ पर आने की चेष्टा करता रहा (ओ अप्रस्तुत मन !) अब लगता तो है कि वह प्रशस्त पथ दिखाई पड़ने लग गया है और अगर हिम्मत ने साथ दिया तो एक दिन उस पर पहुँच जाऊँगा, पर भविष्य-कथन में संकोच होना स्वाभाविक है।

नहीं जानता मेरा यह अनुभव नितान्त मेरा ही है अथवा अन्य समवयसी कवियों का भी ('सप्तक' के, अथवा 'सप्तक' से भिन्न), पर मुझे इसी बात पर कम सन्तोष और हर्ष नहीं है कि मैं इतना भटक कर भी रास्ते पर आ लगा हूँ और, चाहे इस प्रक्रिया में ही अधेड़ हो गया हूँ, अभी मन के उत्साह में कोई कमी नहीं आयी है। वृक्ष अगर फूल न दे तो

साधारण दर्शक का निराश होना स्वाभाविक है, पर अपने-आप को सूखने और ठूँठ हो जाने की नियति से बचाने में वृक्ष को कितना सतर्क यत्न करना पड़ा है, यह कम से कम वनस्पति-शास्त्री को तो पहचानना ही चाहिए ।

●

इस बीच कवि-कर्म निरन्तर कठिन होता चला गया है । 'तार-सप्तक' के प्रथम प्रकाशन के समय विश्व अपने इतिहास के सब से अधिक भीषण युद्ध में ग्रस्त था, और देश अपनी मुक्ति के द्वार पर थरथरा रहा था । जैसे-तैसे युद्ध समाप्त हुआ और देश को मुक्ति मिली, पर जीवन एवं जगत् की जटिलता निरन्तर बढ़ती ही चली गयी है । आधुनिक कवि को यदि एक ओर विश्व पहली बार एक होता दीखता है तो दूसरी ओर यान्त्रिक पद्धति की जकड़ में व्यक्ति अकेला पड़ता जा रहा है । भारतीय कवि के लिए एक अतिरिक्त कठिनाई यह है कि जनतन्त्र के आलोक के ही साथ वे विभाजक खाइयाँ भी दिखाई पड़ने लग गयी हैं जो नगर और ग्राम के बीच, प्राचीन और नवीन के बीच और देशी और विदेशी के बीच खुदी हुई हैं—बल्कि कुछ खाइयाँ तो निरन्तर बढ़ती चली जा रही हैं । इन सब पर अपनी सीमित मध्यवर्गीय अनुभूति के बल पर वह संवेदना का सेतु कैसे बाँधे ? और जब तक यह सेतु न बँधे तब तक उस का कवि-कर्म कैसे चरितार्थ हो ?

●

और मानो यह कठिनाई ही कुछ कम हो कि आज के कवि के सामने एक और भयंकर समस्या खड़ी हो गयी है : उस का कवि-कर्म अतिरिक्त कर्म ही हो सकता है, एक मात्र कर्म नहीं । जो विद्वान् नये कवि से व्यापक दृष्टि, गहन अनुभूति और समर्थ अभिव्यक्ति की माँग करते नहीं थकते, वे इस बात पर एक क्षण भी विचार नहीं करते कि आज की जीवन-पद्धति कवि को अपनी कला के माँजने-सँवारने और पालने-पोसने का कोई अवसर नहीं देती । एक तो आज के जीवन की गति यों ही इतनी तीव्र हो गयी है कि उस के साथ क़दम मिलाना 'तरवार की धार पे धावनो' हो गया है—नयी परिस्थिति से संवेदना का सूत्र मिलाते-न-मिलाते परिस्थिति बदल जाती है—तिस पर दैनिक जीवन की माँग कवि और अ-कवि का भेद नहीं मानती और कवि का अधिकांश जीवन

कविता के चरणों में नहीं, कविता की तैयारी में निवेदित हो जाता है। वैसे तो आज का साहित्यकार मात्र ही अपनी क्षमता का दुरुपयोग करने को बाध्य है, पर कवि तो सब से अधिक क्योंकि इस सर्वाधिक प्राचीन और भव्य साहित्य-विधा का व्यावसायिक मूल्य सब से कम है। आज कविता का साथ 'घर फूँक' कर ही दिया जा सकता है, पर 'घर फूँकना' कबीर के समय में भले ही व्यावहारिक विकल्प रहा हो, आज तो कदापि नहीं है।

●

मैं कभी विदेश नहीं गया, पर पढ़-सुन कर जाना है कि कवि-कर्म की यह दशा केवल हिन्दी में ही नहीं, केवल भारत में ही नहीं, सब देशों में सर्वत्र एक सी है। जनतन्त्र ने जन को शिक्षित किया है, पर एक सीमा ही तक। फलतः आज का जनसाधारण मनोरंजन के लिए तो कविता की माँग करता है, पर कविता से मनोरंजन नहीं करता। और इस प्रकार अनुपयोगी काल की साधना में रत कवि को जीवन-यापन के लिए तरह-तरह की कलाबाजियाँ करनी पड़ती हैं जिस के कारण उस की अनुभूति सीमित और उस का व्यक्तित्व विभक्त हो जाता है। इस सीमा और विभक्ति को नया कवि भरसक वाणी देता है (मैं तो आज की कविता को विभक्ति-युग की कविता कहता हूँ, भक्ति-युग के ढंग पर) पर काम्य उस का भी समग्र और सम्पूर्ण ही है। जो कवि से महाकाव्य की अपेक्षा करते हैं वे उसे महाकाव्य की परिस्थितियाँ पाने में सहयोग क्यों नहीं देते—यह प्रश्न मेरे मन में बराबर उठता रहता है।

●

अन्त में एक बात भाषा के सम्बन्ध में। 'तार सप्तक' के छायावादी पूर्वजों को एक ऐतिहासिक सुविधा मिली थी कि जिस भाषा में वे अपनी अभिव्यक्ति कर रहे थे उस भाषा का वे साथ ही साथ विकास और रूपायन भी कर रहे थे। उन के पहले तो कविता अवधी, व्रज-भाषा आदि बोलियों में लिखी जाती थी। यही कारण है कि उन के लिए काव्य-भाषा का निर्माण एक कठिनाई न हो कर अन-रूँधे पथ पर चलने का गौरवोल्लास बन गया था। यही नहीं, जनतान्त्रिक सिद्धान्त उन के आदर्श तो थे, व्यवहार नहीं बने थे; और इसी कारण जहाँ संस्कृत का अनन्त भाण्डार उन्हें नवीन अर्थ-प्राप्ति के लिए उपलब्ध था, वहीं उसे

लोक-मानस तक लाने की उन्हें कोई बाध्यता न थी (छायावादी कविता में लोकोक्तियाँ और मुहावरे मरु में मरूद्यान की ही भाँति मिलते हैं) पर नये कवि को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। उसे प्रचलित भाषा में ही नया अर्थ भरना है, नयी अभिव्यक्ति का माध्यम पाना है। यही नहीं, उस के आस-पास एक विदेशी भाषा का ऐसा धड़ल्ले से व्यवहार होता है कि सही भावाभिव्यक्ति के लिए उस के शब्दों का सम्पूर्ण बहिष्कार करने की स्थिति में वह नहीं है। परिशुद्धतावादी उसे चाहे कितना ही क्यों न कोसें, दैनन्दिन बोल-चाल में प्रचलित इन अँगरेज़ी शब्दों के स्थान पर हिन्दी के शब्द बैठाना कृत्रिम ही कहा जायेगा और ऐसे शब्द भाव की व्यंजना नहीं कर सकेंगे। यथार्थ की भूमि पर जो काव्य खड़ा है उस का माध्यम यथार्थ-भाषा ही हो सकती है—शब्द-कोश की भाषा नहीं।

—भारतभूषण अग्रवाल

आने वालों से एक सवाल

तुम, जो आज से पूरे सौ वर्ष बाद
मेरी कविताएँ पढ़ोगे
तुम, मेरी धरती की नयी पौध के फूल
तुम, जिन के लिए मेरा तन-मन खाद बनेगा
तुम, जब मेरी इन रचनाओं को पढ़ोगे
तो तुम्हें कैसा लगेगा :
इस का मेरे मन में बड़ा कौतूहल है।

बचपन में तुम्हें हिटलर और गान्धी की कहानियाँ
सुनायीजायेंगी

उस एक व्यक्ति की
जिस ने अपने देशवासियों को मोह की नींद सुला कर
सारे संसार में आग लगा दी,
और जब लपटें उस के पास पहुँचीं
तो जिस ने डर कर आत्महत्या कर ली
ताकि उन का मोह न टूटे;
और फिर उस व्यक्ति की
जिस ने अपने देशवासियों को सोते से जगा कर
सारे संसार को शान्ति का रास्ता बताया.
और जब संसार उस के चरणों पर झुक रहा था
तब जिस के देशवासी ने ही उस के प्राण ले लिये
कि कहीं सत्य की प्रतिष्ठा न हो जाये।
तुम्हें स्कूलों में पढ़ाया जायेगा
कि सौ वर्ष पहले
इनसानी ताक़तों के दो बड़े राज्य थे

जो दोनों शान्ति चाहते थे
और इसी लिए दोनों दिन-रात युद्ध की तैयारी में लगे
रहते थे,
जो दोनों संसार को सुखी देखना चाहते थे
इसी लिए सारे संसार पर क़ब्ज़ा करने की सोचते थे;
और यह भी पढ़ाया जायेगा
कि एक और राज्य था
जो संसार-भर में शान्ति का मन्त्र फूँकता रहा
पर जिसे अपने ही घर में
भाई-भाई के बीच दीवार खड़ी करनी पड़ी
जो हर पराधीन देश की मुक्ति में लगा रहता था
पर जिस के अपने हो अंग पराये बन्धन में जकड़े रहे।
तुम्हें विश्वविद्यालयों में बताया जायेगा
कि इनसान का डर दूर करने के लिए
सौ साल पहले वैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे आविष्कार किये
जिन से इनसान का डर और भी बढ़ गया,
और यह भी
कि उस ने चाँद-सितारों में भी पहुँचने के सपने देखे
जब कि उस के सारे सपने चकनाचूर हो गये थे।
और तभी किसी दिन
किसी प्राचीन काव्य-संग्रह में
तुम मेरी कविताएँ पढ़ोगे;
और उन्हें पढ़ कर तुम्हें कैसा लगेगा
यह जानने का मेरे मन में बड़ा कौतूहल है।

तुम जो आज से सौ साल बाद मेरी कविताएँ पढ़ोगे
तुम क्या यह न जान सकोगे
कि सौ साल पहले
जिन्हों ने तन्मयता से विभोर हो कर
आत्मा के मुक्त-आरोहण के
या समवेत जीवन की जय के गीत गाये

वे आँखें बन्द किये सपनों में डूबे थे;
और मैं जिस का स्वर सदा दर्द से गीला रहा,
जिस के भर्राये गले से कुछ चीखें ही निकल सकीं,
मैं सारा बल लगा कर
आँखें खोले
यथार्थ को देख रहा था।

मैं, और मेरा पिट्ठू

देह से अकेला हो कर भी
मैं दो हूँ,
मेरे पेट में पिट्ठू है।

जब मैं दफ़्तर में
साहब की घण्टी पर उठता-बैठता हूँ,
मेरा पिट्ठू
नदी किनारे वंशी बजाता रहता है!
जब मेरी 'नोटिंग' कट-कुट कर 'रि-टाइप' होती है,
तब साप्ताहिक के मुख-पृष्ठ पर
मेरे पिट्ठू की तसवीर छपती है!
शाम को जब मैं
बस के फ़ुट-बोर्ड पर टँगा-टँगा घर आता हूँ
तब मेरा पिट्ठू
चाँदनी की बाँहों में बाँहें डाले
मुग़ल गार्डन में टहलता रहता है!
और जब मैं
बच्चे की दवा के लिए
'आउटडोर वार्ड' की 'क्यू' में खड़ा रहता हूँ
तब मेरा पिट्ठू
कवि-सम्मेलन के मंच पर पुष्प-मालाएँ पहनता होता है!
इन सरगर्मियों से तंग आ कर
मैं अपने पिट्ठू से कहता हूँ :
भई, यह ठीक नहीं
एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं,

तो मेरा पिट्ठू हँस कर कहता है :
पर एक जेब में दो क़लमें तो सभी रखते हैं !

तब मैं झल्ला कर आस्तीनें चढ़ा कर
अपने पिट्ठू को ललकारता हूँ—
तो फिर जा, भाग जा, मेरा पिण्ड छोड़,
मात्र क़लम बन कर रह !
और यह सुन कर वह चुपके से
मेरे सामने गीता की कापी रख देता है !

और जब मैं
हिम्मत बाँध कर
आँखें मींच कर मुट्ठियाँ भींच कर
तय करता हूँ कि अपनी देह उसी को दे दूँगा
तब मेरा पिट्ठू
मुझे झँकझोर कर
'ऐफ़िशिएन्सी बार' की याद दिला देता है !

एक दीखने वाली मेरी इस देह में
दो 'मैं' हैं।
एक मैं
और एक मेरा पिट्ठू।
मैं तो, खेर, मामूली-सा क्लर्क हूँ
पर, मेरा पिट्ठू ?
वह जीनियस है !

दूँगा मैं

दूँगा मैं।
नहीं, नहीं हिचकूँगा
　　कि मेरी अकिंचनता अनन्य है
　　कि मैं ऐसा हूँ कि मानो हूँ ही नहीं,
हाँ, नहीं हिचकूँगा
　　कि तुम्हें तृप्त कर पाऊँ : मुझ में सामर्थ्य कहाँ
　　कि अपने को निःस्व कर के भी
　　तुम्हें बाँध नहीं पाऊँगा,
और नहीं सोचूँगा यह भी
　　कि आखिर तो तुम मुझे छोड़ चले जाओगे
　　जैसे नदी का जल
　　ढूहों को तोड़ कर
　　छोड़ चला जाता है,
सोच छोड़
हिचक छोड़
दूँगा मैं।
देता हूँ।

लो
यह लो
ओ तुम अनजाने अतिथि आज-भर के!
लो यह पराग
　　जो अपनी अशक्ति में मात्र गुनगुनाहट है
　　पर जिसे दे कर
　　ये मेरे ओठ समाधि बन जायेंगे,

लो यह आग
　　जिस की चिनगी में जलन तो क्या
　　ताप भी नहीं
　　पर जिसे दे कर
　　यह मेरी अस्थि विभूति बन जायेगी,

लो
मैं देता हूँ
अपना पराग-राग
आग यह अपनी
जो मैं हूँ,
जो मेरा सर्वस्व है
(पर जो नगण्य है)
बेहिचक देता हूँ
मुट्ठी पर मुट्ठी भर अपने को रीता कर देता हूँ—
लो तुम
ओ अतिथि ?
यह सेवा स्वीकार करो
भूल कर कि इस से तुम्हारा काम नहीं चलने का !

देता हूँ
क्योंकि तुम मेरे द्वार आये हो
और मेरे पास है देने को अपनापन,
देता हूँ
क्योंकि मैं जानता हूँ
कि तुम मुँह-अँधेरे से
इस गली के घर-घर के द्वार पर
दस्तक दे-दे कर थक गये हो—
　　भीतर थी चहल-पहल, राग-रंग-गूँज समारोह की
　　पर किसी ने सुनी नहीं तुम्हारी वह खटखटाहट
　　क्योंकि सब ने सोचा कि तुम तो भिखारी हो

दीन-हीन याचक
परोपजीवी,
पर मैं पहचानता हूँ
कि तुम अतिथि हो
तिथि से परे हो
इतिहास हो !

दूँगा मैं।

• •

४

प्रभाकर माचवे

[माचवे, प्रभाकर बलवन्त : जन्म ग्वालियर में दिसम्बर १९१७ में हुआ। कॉलेज की शिक्षा आगरे में पायी, जहाँ से सन् १९३९ में दर्शन और सन् १९४१ में अँगरेज़ी साहित्य विषय ले कर एम० ए० पास किया। नवम्बर १९४० में सेवाग्राम में "महात्मा गान्धी के निरीक्षण में" विवाह हुआ। अब उज्जैन में तर्कशास्त्र के अध्यापक हैं।

प्रभाकर मराठी और हिन्दी दोनों में लिखते हैं, और पर्याप्त लिखते हैं—कविता, कहानी, परिहास, अलोचना और "भूमिकाएँ भी"। पत्र-पत्रिकाओं के अलावा कई रचनाएँ पुस्तकों में भी छपी हैं।

चित्रकला में विशेष रुचि है। "घूमने में भी थी—पर क्रमशः कम होती जा रही मालूम होती है, जो कि गुरुत्व के साधारण नियम के अनुकूल ही है।"

एक कविता की कुछ पंक्तियों के अर्थ के बारे में दुविधा जतायी जाने पर कवि ने जो उत्तर दिया वह उस का अच्छा परिचय है। "—की अन्तिम पंक्तियों का अन्वय करने में आप को यों दिक़्क़त पड़ती होगी कि उस में फ़्रायड की शब्दावली में 'वर्श्राइवेन' हो गया है—यानी एक पूरी की पूरी पंक्ति मैं भूल गया हूँ। उन पंक्तियों को यों पढ़िए····या अपने मन से दुबारा लिख लीजिए, या निकाल दीजिए। अर्थ पाने का सब से अच्छा (जैनेन्द्राइट) तरीक़ा यह है कि उस हिस्से या वाक्य को काट दिया जाये।

१९४३ से—

"अध्यापकी और उज्जैन दोनों को १९४८ में एक साथ छोड़ दिया।" छह वर्ष ऑल इण्डिया रेडियो में रहे—इलाहाबाद, नागपुर और दिल्ली। सन् १९५४ में यह अरुचिकर काम छोड़ा और तब से १९६४

तक साहित्य अकादेमी में सहायक मन्त्री रहे; बीच में दो वर्ष के लिए (१९५९-६०) अमेरिका गये थे—विस्कॉन्सिन विश्वविद्यालय में अतिथि अध्यापक हो कर। अब लोकसेवा आयोग से सम्बद्ध हैं। इस बीच कविताएँ भी लिखीं और "कविता के बारे में भी लिखा।" हिन्दी, मराठी और अँगरेज़ी में कविताओं का अनुवाद भी किया। सन् १९५७ में 'निर्गुण मराठी-हिन्दी सन्त काव्य' विषय पर शोध के लिए पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

प्रकाशनों में उल्लेखनीय हैं : **'स्वप्न-भंग'** (१९५४), **'अनु-क्षण'** (१९५९) और 'तेल की पकौड़ियाँ' (१९६१)—तीनों कविता-संग्रह; 'खरगोश के सींग' (१९५०) और 'बेरंग' (१९५७)—दो निबन्ध-संग्रह; और 'परन्तु' (१९५२)—उपन्यास। "और उल्लेखनीय सृजन हैं : पुत्र असंग (१९४८) और पुत्री चेतना (१९५०)।"]

वक्तव्य

यहाँ पर अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में, न तो भावुकताजन्य आत्मसमर्थन से भरी और न ही स्व-मताग्रह से पाठकों को पूर्वदूषित करने के तथा-कथित बुद्धिवादी ढंग की कैफ़ियत मैं देना चाहता हूँ। कविता और पाठक के बीच में सीधा भाव-विनिमय होने के पक्ष में मैं हूँ; इद दोनों के बीच में व्यक्ति कवि को लाना मैं अवांछित और अप्रस्तुत समझता हूँ। अतः 'अपनी' कविताओं के विषय में मौन रह कर जब कवितामात्र पर, कविता नामक जातिबोधक संज्ञा पर (भाववाचक संज्ञा पर नहीं, क्योंकि अधिकांश भाववाचक शब्द अभावसूचक ही होते हैं) मुखर होने का विचार करता हूँ तब काव्यरचना के आदि-कारण और अन्तिम-हेतु के सम्बन्ध में भी कोई सर्व सामान्य नियम बनाना मुझे तर्कसंगत नहीं जान पड़ता। कला की अपनी स्वयं-निर्णीत तर्क-पद्धति होती है। इस लिए रचना की प्रक्रिया पर ही कुछ कहा जा सकता है : वस्तु-विषय, व्यंजना आदि पर।

कवितागत रोमांस और यथार्थ, एक ही कोण की दो भुजाएं हैं। रोमांस स्वस्थ मन का भावनात्मक रुख है, यथार्थ उसी की बुद्धिगत परिकल्पना। कोलरिज का एक बहुत अर्थपूर्ण कथन है कि "गहरी भावनाएँ गहरे विचार की कोख से जनमती हैं।" आज हिन्दी कविता में रोमांस के छिछले और गँदले हो जाने के कारण यथार्थ पर अधिक जोर दिया जा रहा है। यह अंशतः आवश्यक और इष्ट भी है। पर यही स्थिति क्या सदा के लिए रहेगी? युग की वाणी जैसे ग़रीबों पर निरे निष्क्रिय आँसू बहा कर या बूर्जुआ को दस-पाँच गाली दे कर समाप्त नहीं हो जाती, वैसे ही युग-युग की वाणी भी मर्मियों की भाषा का विवेकशून्य अनु-

करण कर, अप्रस्तुत अलंकार-योजना से ही पूरी नहीं होती। असल में काल के मानदण्ड से वाणी का यह वर्गीकरण ही ग़लत है।' 'साहित्य में अमरता' इस शब्द में ही एक मुग़ालता है, एक अनैतिहासिकता छिपी हुई है। कविता इतिहास की जननी न हो कर, पुत्री है।

व्यक्तिगत अनुभव के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जो अत्यधिक सामाजिक आशय से गर्भित रहते हैं। उन में मानव और प्रकृति, प्रकृति और संस्कृति के सतत संघर्ष के गति-चित्र का ऐसा अंशांकन होता है कि उस की पुनरावृत्ति असम्भव है। कवितागत मौलिकता का अर्थ वही अंशांकन है। वह अंशांकन है, सामाजिक परिपार्श्व में व्यक्ति की मानसिक प्रभाव-प्रक्रिया, वेदना-संवेदना, प्रगति-अ-गति आदि का प्रामाणिक बिम्ब-चित्रण। इन्हीं नाना भाव-विचार संवेदना-मिश्रित 'विशेषों' को ज्यों का त्यों व्यक्त करने के कारण, एक बार अपनी कविताओं को चित्रकला से एक शब्द उधार ले कर 'इम्प्रेशनिस्ट' अथवा 'बिम्बवादी' शब्द से मैं ने विशेषित किया था। सम्भव है कि मुझ में का चित्रकार मुझ में के कवि पर तब हावी हो रहा हो। सम्भव है किसलर, सेज़ान, गोया, डी रेवेरा की चित्र-शैलीगत वर्ण-योजना, रिल्के, एलियट, लॉरेंस, स्पेंडर, सेंसिल डे लुइस और ऑडेन की पद्य रचनागत वर्ण-योजना से टक्कर न खाती हो। परन्तु चूँकि मैं 'विशेष' को 'साधारण' से अविच्छिन्न और अविभाज्य मानता हूँ, एक ओर जहाँ 'स्वान्तःसुखाय' को स्वरति कहने में मैं नहीं हिचकता, दूसरी ओर त्रॉत्स्को के 'कला हथौड़ा है'—वाले नारे से भी सहमत नहीं होना चाहता। मैं यह भी मानने के लिए तैयार हूँ कि 'बिम्बवाद' ही कविता नहीं है, अगर आप यह मानें कि 'बिम्बवाद' भी कविता है।

आधुनिक हिन्दी कविता में आत्म-रति, मृत्यु-प्रेम और संकेतों से स्वप्न-पूर्ति करने की आदत के कारण घोर अनिश्चय, ये तीन दोष (मनोविज्ञान की शब्दावली में ऑटो-एरोटिज़्म, नेक्रोफ़िलिया और एबूलिया) इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। छायावाद हिस्टीरिया की भाँति हिन्दी कविता का एक मानसिक रोग है। दोनों में स्मृतियों की प्रच्छन्न और अज्ञात पुनरावृत्ति तथा तज्जन्य अहेतुक त्रास (फ़्रायड की भाषा में एर्सात्ज़बिल्डुंग और फ़्लोटिएरेंडे आंग्स्ट) दिखाई देते हैं। अतः एक तरुण, स्वस्थमना कवि के लिए छायावाद का माध्यम स्थविर, स्त्रैण और जीर्ण जान पड़ता है।

पेण्डुलम प्रतिक्रिया से जिस प्रकार दूसरा छोर पकड़ लेता है, ऐतिहासिक जड़वाद के अध्ययन से और भारतीय राजनैतिक क्षितिज के धूम-संकुल हो जाने से, नये कवियों ने छायावाद तज कर प्रगतिवाद को अपनाया। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में यह अपरिपक्व और नाम का ही प्रगतिवाद है। उस की जड़ें जीवन में धँसी हुई न होने से, जो स्फूर्ति वह पाता है वह एक बुद्धिजीवी, ऊर्ध्वमूल, सीमित वर्ग से ही है (जो कि अधुना चौतरफ़ा फ्रस्ट्रेशन का शिकार है)। फलतः प्रगतिवाद में एक अनावश्यक प्रदर्शनप्रियता दमित इच्छाओं से निर्मित होने वाला औद्धत्य की सीमा तक पहुँचने वाला पर-पीड़नप्रेम और प्रचार के विद्रूप कुनैन पर कला का शर्करावरण पहिनाने की या राजनैतिक पक्ष-विशेष का 'माइक' कविता को बनाने की प्रवृत्ति आदि दोष रह गये हैं। वे सब धीरे-धीरे मिट जायेंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। इन दोषों के बावजूद भी हिन्दी कविता के भविष्य के विषय में आशावाद के लिए बहुत गुंजाइश है।

इन दो वादों को छोड़, हिन्दी कविता में एक समय की बहुत लोक-प्रिय बनी हुई राष्ट्रीयतावाद की लहर अब धीमे-धीमे मन्द पड़ती जा रही है, क्योंकि छायावाद और प्रगतिवाद दोनों के समन्वय(?)-जन्य दोष उस में इकट्ठे आ गये हैं, क्योंकि वे प्रगति को छाया समझते हैं और छाया को ही प्रगति। इस प्रकार वस्तु की दृष्टि से हिन्दो कविता में अभी विषयों की विविधता, व्यंग्य का तीक्ष्ण और सुरुचिपूर्ण प्रयोग, प्रकृति के सम्बन्ध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि, जन-जीवन के निकटतम जा कर ग्राम-गीत, लोक-गाथा और बाज़ारू कहलायी जा कर हेय मानी जाने वाली बहुत सशक्त और मुहावरेदार ज़बान से नये-नये शब्द-रूपों और कल्पना-चित्रों को ग्रहण करना और प्रयोगशील अभिव्यंजना के प्रति औदार्य आना चाहिए।

व्यंजना की दृष्टि से भाषा, कल्पना और छन्द पर दो शब्द कहूँ: कवितागत भाषा का भावानुकूल अदलने-बदलने का पूरा अधिकार होना ही चाहिए। ज्यों-ज्यों कविता की भाषा अधिकाधिक आम जनता की भाषा बनती चलेगी, उस में प्रादेशिक शब्द अधिक आयेंगे, और यह इष्ट ही होगा। मगर शब्दों की अभिधामूला लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना-शक्ति पर मेरी अधिक श्रद्धा है। शब्दों के लिखने में भी कई ध्वनियों

को हिन्दी लिपि नहीं लिख सकती। (यह शिकायत चौदह वर्ष पहले 'कविता-कौमुदी' के सम्पादक ने पाँचवें भाग की भूमिका में की थी) इस के लिए जैसे साधारण स्वरोच्चार के दीर्घीकरण के लिए अवग्रह हैं, अर्धोच्चार या द्रुतोच्चार के लिए भी चिह्न आवश्यक हैं। मराठी में चूँकि बँगला की तरह ह्रस्व को दीर्घ पढ़ सकने की सुविधा है, आधुनिक मुक्त-छन्द में अक्षर-छन्दों का प्रयोग सहजता से जहाँ होता है, ऐसे चिह्नों का उपयोग करते हैं। 'निराला', 'नवीन' और नरेन्द्र शर्मा का आदर्श, भाषा के सम्बन्ध में, मैं मानता हूँ, चूँकि तीनों ने इस दृष्टि से काफ़ी प्रयोग किये हैं—रोमैण्टिक, रियलिस्टिक और क्लासिकल तीनों शैलियों में।

हमारे यहाँ सूझ और कल्पना को कविजन, और आलोचक भी, प्रायः पर्यायवाची मान लेते हैं। परन्तु मनोवैज्ञानिक कहेंगे कि यह बात सच नहीं है। कल्पना वैसे तो अनेक प्रकार की हो सकती है, जिस में से काव्य में तीन तरह की कल्पना पायी जाती है—पुनर्निर्माणात्मक, रचनात्मक, मौलिक। अन्तिम यानी नवोन्मेष से विस्फूर्जित और उत्सेकित कल्पना की हिन्दी कविता में कमी है। उस के लिए हमें अपना अलंकार-विधान आमूल बदलना होगा, उपमान माँजने होंगे, रूपकों को क़लई खोलनी होगी, उत्प्रेक्षाएँ सचमुच भाव के उत्स से उत्प्रेरित हैं या नहीं यह देखना होगा। हमारी कविता में पाये जाने वाले अधिकांश कल्पना-चित्र या बिम्ब (इमेज) बच्चों के से निरे शाब्दिक, सहस्मृत या परम्परागत होते हैं। इन शाब्दिक, साहचर्यात्मक और पारम्परिक बिम्बों की बजाय हमें राग और ज्ञान से पूरित ऐन्द्रिय, आवेगाश्रित और अभिजात बिम्बों की सृष्टि करना है। हमारे अलंकार अधिक वैज्ञानिक, आधुनिक और वैशेषिक हों अन्यथा निरे अलंकार-सांख्य से निरलंकार काव्यरचना बेहतर है।

छन्दोरचना के विषय में हमें नव-नवीन प्रयोग अपनाने होंगे। अन्य भाषाओं के छन्द भी हम लें। 'निराला' द्वारा हिन्दी में लायी गयी मुक्त, विषमचरणावर्तिनी, अतुकान्त अक्षर-मात्रिक छन्द पर आश्रित तालात्मक पद्यरचना-पद्धति श्रेयस्कर है। उस में भावों के उतार-चढ़ाव के अनुकूल गति के श्लथ-द्रुत होने की सम्भावना यदि हो सके, और गेयता अधिक और गद्यात्मकता कम आ सके तो और अच्छा। अन्तर्गत प्रास-योजना

सहज हो; वह शब्दनिष्ठ न हो कर अर्थनिष्ठ हो। जहाँ एक ओर लम्बे-लम्बे कथा काव्य मसनवी और पोवाडे के ढंग पर लिखे जायें वहीं गीतों की ओर से हम एकदम निराश न हो जायें (चूँकि अब तो हिन्दी में बिलकुल संगीतानुकूल न होने वाली रचना पर भी 'गीत', यह गोलमोल शीर्षक देने का फ़ैशन चल पड़ा है) 'गीत-अगीत कौन सुन्दर है ?'

उपर्युक्त विवेचना से मेरा कदापि यह आशय नहीं है कि मेरी रचनाएँ जो इस संग्रह में हैं, वे सब मेरे इस 'फ़तवे' की सब शर्तों को पूरी करने वाली या उन-उन काव्य-दोषों से पूर्णतः अलिप्त हैं। इस प्रकार दोषों की स्वीकृति हमें उत्तरोत्तर बल देती है, और आत्मालोचन तो बुद्धियुक्त होने का प्रथम लक्षण है। सामाजिक मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन के हरक्यूलियन कष्टसाध्य कार्य में एक अवश्यम्भावी शर्त है आत्मविश्वास; यदि किसी को आत्मविश्वास भी अहन्ता जान पड़े तो उस का क्या इलाज ? मुझे कहने दीजिए कि वह आत्म-प्रकटीकरण की एक समर्थनीय और क्षम्य अपरिहार्यता है।

—प्रभाकर माचवे

वसन्तागम

गा रे गा हरवाहे दिल चाहे वही तान
खेतों में पका धान
मंजरियों में फैला आमों का गन्ध-ध्यान
आज बने हैं कल के ज्यों निशान,
फूलों में फलने के हैं प्रमाण !

खेतीहर लड़की भोली-आँखों में, निम्बुओं को फाँकों में
मुसकाता अज्ञान, हँसता है सब जहान,
खेतों में पका धान !

मधुऋतु रानी महान्,
मानिनी, बसन्ती रंग चोली झलके जिस का,
ढलके आँचल धानी लहरा-सा,
आँखों में आकर्षण भी खासा,
युग-युग का प्यासा-सा छल के दिलासा जहाँ,
उतरी उन सरसों के खेतों पर मायाविनि
हलके-हलके-हलके ।
फूल में छिपे निशान हैं फल के ।
उतरी वासन्तिका,
तहलका-सा छाया तरु-दुनिया में, छुटा भान,
स्वागत में कोकिला का पिंडुकी का जुटा गान ।
'आशा ही आशा है'
आज अनिर्बन्ध, उष्ण, अरुण प्रेम-परिभाषा
पल्लव की पल्लव से सुरभिमय यही भाषा—
'आशा ही आशा है....'

वासन्ती की दिगन्त-रिनिनिनमयि शिंजनियाँ,
पड़ती जो भनक कान,
परिवर्तित लक्ष-लक्ष श्रुतियों में रोम-रोम,
पंखिल हैं पंचप्राण !
गा रे गा हरवाहे, छेड़ मन चाहे राग
खेतों में मचा फाग !

मेघ-मल्लार

मालव की सन्ध्याएँ
मेघल अवसाद-लदी !
कोमल-मधु-याद बँधी—
सजल, शीत, बह बयार।
मन का सब व्यथा-भार
बह चले निराधार
निराकार........
मन में सुधि उतर चली।
दूर-दूर की लहरी
व्याप चली रोम-रोम।
आनत काली बदली
ज्यों दाहक चैत में भी
नाप रही पूर्व व्योम—
'होम, स्वीट होम' !

मैं खीच रहा हूँ आज अकाज लकीरें
आ भर दे उन में रंग-रूप तू पी रे !
मैं तालहीन स्वरहीन छेड़ता वंशी,
तू भर दे उस में नाद-माधुरी धीरे !

कुछ रिक्त हो चली दुनिया मेरे मन-सी
कुछ रिक्त हो चली जगती इस जीवन-सी
तुम निज आर्द्रा घिर-घिर कर क्षण भर छा दो—
सन्तुष्ट हो चले हिय की प्यासी हँसी।
तुम अलस-भाव से प्राण, मलार कँपा दो
जो बरस पड़े सहसा याँ सावन-भादों,

यों संरस हो उठे अवनि-दिशा-घर-अम्बर
हो जायँ एक सब बिछुड़ी तन-मनसा दो !

आषाढ़ लगे....हो गयी निहाल प्रतीची
उस क्षितिज-कोर तक गीली गुलाल सींची
किस प्रतीक्षिता ने हेमल-रेखा खींची।
निज बिथा सघन, घन छोरहीन तू कह ले
करव-पंखी, किरमिजी, असित मटमैले
यक्ष के विधुर उच्छ्वास गगन तक फैले।
बदली-गुण्ठन में विस्तृत वन-गिरि आवृत
घन नील लेख से क्षितिज रेख भी संवृत
अग-जग में विश्रुत मात्र निदारुण निभृत।
गोधूलि मेघमय, सुधा-करुण यह बेला
घर विहग लौटते, तिमिर उरग भी फैला
जा रहा पान्थ अश्रान्त अशान्त अकेला।

सॉनेट

मैं ने जितना नारी, तुम को याद किया है, प्यार दिया है,
तुम ने भी क्या कभी भूल से सोचा था कैसा है यह मनु ?
मैं ने क्या अपराध किया जो तुम ने यों इसरार किया है
जाने कैसे विद्युत्कर्षण से परसित है तन-मन-अणु-अणु ।
तुम मेरे मानस की संगिनि, चपल विहंगिनि, नीड़ कि शाखा ?
तुम मेरे मन की राका की एकमात्र नक्षत्र—विशाखा;
तुम हो मृगा या कि आर्द्रा हो ? नहीं, रोहिणी, तुम अनुराधा,
तुम छायापथ, ज्योति-शिखा तुम, तुम उल्का, आलोक-शलाका,
संशय के सघनान्धकार में विद्युन्माला अयि अचुम्बिते !
तुम हरिणी, मालिनी, शिखरिणी, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बिते
तुम छन्दों की आदि-प्रेरणा, प्रथम श्लोक की पृथुल वेदना,
तुम स्रग्धरा या कि मन्दाक्रान्ता, ओ आर्या, गीति स्तम्भिते !

मैं गतिहारा यति-सा ग्रह से शून्य प्रभाकर, मैं वैनायक
तुम रागिनी और मैं गायक, तुम हो प्रत्यंचा मैं सायक !

यहाँ मुक्ति की प्रबल चाह

यहाँ मुक्ति की प्रबल चाह है उसी एक दुर्दान्त शक्ति की—
हमें न कोई पनाह अथवा शरण चाहिए अन्ध-भक्ति की !
यहाँ सरल अन्तर दो परस्परातुर, और चाहिए भी क्या ?
हमें न किंचिन्मात्र ज़रूरत किसी तर्क की, किसी युक्ति की !

चार पंक्तियाँ

निर्जन की जिज्ञासा है निर्झर की तुतली बोली में
विटपों के हैं प्रश्नचिह्न विहगों की वन्य ठठाली में
इंगित है 'कुछ और पूछ लूँ' इन्द्रचाप की रोली में
संशय के दा कण लाया हूँ आज ज्ञान की झोली में ।

चार और पंक्तियाँ

जब दिल ने दिल को जान लिया
जब अपना-सा सब मान लिया
तब ग़ैर-बिराना कौन बचा
यदि बचा सिर्फ़ तो मौन बचा !

राही से

इस मुसाफ़िरी का कुछ न ठिकाना, भइया !
याँ हार बन गया अदना दाना, भइया ।
है पता न कितनी और दूर है मंज़िल
हम ने तो जाना केवल जाना, भइया !

तकरार न करना जाना है एकाकी
हमराह बचेगा कौन भला अब बाक़ी
जब सम्बल भी सब एक-एक कर छुटता
बस बची एक झाँकी उन नक़्शे-पा की ।

छुट चले राह में नये-पुराने साथी
मिट गयी मार्गदर्शक यह कम्पित बाती
नंगी प्रकृति वीरान भयावन आगे
मैं जाता हूँ, आओ हो जिस की छाती !

प्रेम : एक परिभाषा

प्रेम क्या किसी मृदूष्ण स्पर्श का भिखारी ?
प्रेम वो प्रपात
गीत दिवारात
गा रहा अशान्त
प्रेम आत्मा-विस्मृत पर लक्ष्य-च्युत शिकारी ।
प्रेम वह प्रसन्न
खेत में निरन्न
दुर्भिक्षावसन्न
सृजक कृषक खड़ा दीन अन्नाधिकारी ।

गेहूँ की सोच

काँप रहीं खेतों में गेहूँ की बालियाँ
मेंड़ पर बैठा है भूमिजन चिलम पीता, खाँसता।
सोचती हैं बालियाँ—
'यहाँ से हमें तोड़-तोड़
बच्चे ले जायेंगे,
जलायेंगे होली में
(गायेंगे गालियाँ
बजायेंगे तालियाँ)
याकि हमें जोड़-जोड़
खेतीहर अनजान
बेचेंगे किसी लाभकर्मी निरे खुदग़र्ज़ बनिये को
(बेचेंगे यह कपास, वह जूट; हाय हम में ही फूट!)

बहुत कुछ जायेगा लगान
कुछ जायेगी क़र्ज़-किश्त
बाक़ी रह जायेगी—
झोंपड़ियों की उन भूखी अँतड़ियों के लिए सूखी
एक बेर रोटी—!
क्या यह नीति खोटी नहीं?
गेहूँ के मोती-से दाने जो पसीने से
उगाये, अरे बदे हों उसी के भाग
आँसू के दाने सिर्फ़!
सींचे वही ख़ून जो लगाये वह सीने से,
और आँख मीच खायें वे कि जिन्हें ज़ीने से
उतरने में कीमख़ाब गड़ती हो····!

छिः ऐसे जीने से बेहतर नहीं है क्या
होली में जल जाना ?
होली में जल जाना क्या है बुरा ?
क्या हैं बुरी गालियाँ ?'
सोचती हैं बालियाँ....

जब तक नहीं आसान मिलती हैं तालियाँ
मानव के कोष-दोष-जन्य घोर असन्तोष
संचय की,
विनिमय के वैषम्य के मदहोश तालों की ।

वृष्टि

वर्षा,
जिस ने कर्षक को आकर्षा।
स्वस्थ, मस्त बूँदों ने आ कर,
विपद्ग्रस्त धरती को स्पर्शा।
सहसा जलमय हुए झील, रत्नाकर,
नाले, नदियाँ, निर्झर!
यकसाँ जन-जन का मन हर्षा।
झरर-झरर-झर
ये संघर्षातुर झड़ियाँ, या
झन-झन-झन बजती-सो कड़ियाँ;
व्योम-समर-भू में झूमे जो
मत्त मेघ के महासैन्य को वाताहत करने को उद्यत,
धरती जिस की लू से झुलसी थी
वह पुनः गुरिल्ला दल-सी—
बही हवा दुर्धर्षा!
ऐसी वर्षा!
हहर-हहर कर—
बाढ़ आ गयी क्षुद्र पीन नद में भी,
ढहे कगारे जीर्ण-समाज-व्यवस्था-से, गतिहारे आदर्शों से।
गेहूँ-सा मटमैला फैला पात्र नदी का।
दूर-दूर तक इन्क़लाब-से बद्दल जिन का पार न दीखा।
कीच मचा,
औ'
धारा जो कि स्वर्ग से गिरती
धारा आज धरा से मिलती, तभी उसे मिलता छुटकारा।

गर्म श्वास यों निकले नर्म रसा से—
निःक्षत्रिय करने को मानो आज उठ खड़ी
सरोष जनता ले कर फरसा,
ऐसी वर्षा !

रेखा-चित्र

संझा है धुँधली, खड़ी भारी पुलिया देख,
गाता कोई बैठ वाँ, अन्ध भिखारी एक।

दिल का बिलकुल नेक है, करुण गीत की टेक—
'साईं के परिचै बिना अन्तर रहिगौ रेख'।...
(उसे काम क्या तर्क से, एक कि ब्रह्म अनेक !)

उस की तो सीधी सहज कातर गहिर गुहार :
चाहे सारा अनसुनी कर जाये संसार !
कोलाहल, आवागमन, नारी-नर बेपार,
वहीं रूप के हाट में, जुटे मनचले यार।

रूपज्वाला पर कई लेते आँखें सेंक—
कई दान के गर्व में देते सिक्के फेंक !

कोई दरद न गुन सका, ठिठका नहीं छिनेक,
औ' उस अन्धे दीन की रुकी न यकसाँ टेक—
'साईं के परिचै बिना अन्तर रहिगौ रेख !'

देशोद्धारकों से

मृदुल नींद नीड़ की गोद में
और परों की सेज नरम,
बाहर झुलसी हवा बह रही
रह-रह कर लू तेज़ गरम,
बाहर अर्धनग्न पीड़ा,
भीतर क्रीड़ा-लबरेज़ हरम,
करुणा के आँगन में, नेता,
दे थोड़ी-सी भेज शरम !

वह एक

वह एक
मैला-सा कुर्ता पहने बेच रहा अख़बार :
'अरजुन, स्वराज, जन्मभूमि, आज, अधिकार—'
दो पैसे या कि चार-चार।

कहता है वह पुकार
आज चीन-जापान लड़ाई,
कल हिटलर की चढ़ाई,
और परसों श्री गान्धी का उपवास....
वह क्या समझता है राजनीति ? ख़ाक-धूल !
उसे क्या पता है यह फैला कहाँ तक है
मैला जीवन-दुकूल !
उस को न परवाह काँगरेस नैया की पतवार—
वाम-पक्ष पै है या हराम पक्ष पै है,
वह जानता है महावार
तनखा साढ़े तीन कल्दार।
उस को हैं जिन्ना, बोस,
हिटलर, पटेल, घोष,
ये सब बस निरे नाम
उस का तो फ़क़त काम
चिल्लाना बार-बार
तीन मरे, दस घायल—
दंगा, बम फटे, या कल मर गये फ़लाँ-फ़लाँ।
यों ही चला करता है दुनिया का दौरान
उस को न रंजो-ग़म उस को तो एक भान—
बेचना ये समाचार—

चाहे सम हो कि विषम !

वह एक मशीन
जिस में इस दुनिया के गोले के प्रत्येक
कोने से आती जो ख़बरें हैं रंगीन श्री-हीन,
सब बन के अक्षर ढल जाती हैं, छप कर के जो निकलीं
लक्ष-लक्ष चक्षुओं से निगली गयीं वे और
बिक भी गयीं गली-गली में। कि चौबीस
घण्टों के बाद पुनः बासी। यह खड़-खड़-खड़
दैनिक की 'रोटरी' की प्यास बड़ी संगीन....
वह एक !

निम्न मध्य-वर्ग

नोन-तेल-लकड़ी की फ़िक्र में लगे घुन-से,
मकड़ी के जाले-से, कोल्हू के बैल-से।
मकाँ नहीं रहने को, फिर भी ये धुन से
गन्दे, अँधियारे और बदबू-भरे, दड़बों में
जनते हैं बच्चे।

शहर की तमाम नालियों की जो सड़ांध है,
न घुस पाती इन के दिमाग़ में, नथुनों में।
पुर्ज़ों-से बेजान,
बीस-बीस पच्चीस
महावार रुपयों पर जीते हैं।
इन के है कोई नहीं विश्वास अथवा मत।
जैसा कहा सब ने, त्यों,
इन ने भी गर्दन हिलायी,
पुनः कर्मरत।
इन के यों जीने में कौन-सा बचा मतलब ?
आशा कौन-सी है इन्हें,
फिर भी ये जीते हैं,
उच्च-मध्यवर्ग की नक़ल करते
बोल-चाल, रहन-सहन, कपड़ों में, रस्मों में।
लहू नहीं, गोमूत्र बहता इन जिस्मों में,
इसी से सदा डरते क्रान्ति में नवीनता से घबड़ाते।
पीटते लकीर।
औ' मुहल्ले में इन के जो आता है
सदा देने बुड्ढा फ़क़ीर,

वह भी तो जानता है
इन की इस दासत्व-जर्जरित मनसा की नस-नस, सो
कहता है—'काम में तरक़्क़ी हो,
ओहदा बढ़े,
कमाने वालों की ख़ैर रहे,
औलाद बढ़ती रहे,
मिल जाय पाव भर आटा',
जब कि इन का ही
इस विराट् आर्थिक विपन्नता की
चक्की में पिस-पिस कर
बन रहा महीन ख़ुद आटा है

'द्रा ज़्द्रास्तव्युते सोवित्स्की सोयूज़ !'*

(सॉनेट)

व्योम में सगर्व जा रहा सगर्व सैन्य लाल
पितृदेश के अनन्य भक्त वीर नौजवान,
पंखहीन ये विहंगराज, सैकड़ों विमान,
शत्रु देख अग्निवृष्टि, हो परास्त, हो बिहाल !
भूमि पै चला रही सधीर वीर-अंगना
तोप औ' विमाननाशिका व शस्त्रगाड़ियाँ !
आज रूस की हुई कई उजाड़ बाड़ियाँ
किन्तु धैर्य की दिवाल हो ज़रा भी भंग ना !
राक्षसो, बुभुक्षिता, महाकृतान्त-दूतिका
आ रही असंख्य चील-सी विमानवाहिनी,
छा रही अनन्त सबमैरीन सिन्धुगाहिनी,
योजनान्त टैंक औ' विनाशिका स-स्वस्तिका,
किन्तु रूस का समस्त, स्वस्थ-मस्त तरुण-वर्ग
सोवियत्-जयध्वनी, चढ़ा रहा सु-शीश-अर्घ्य !

* (रूसी में 'सोवियत यूनियन ज़िन्दाबाद !')

कविता क्या है ?

कविता क्या है ? कहते हैं जीवन का दर्शन है—आलोचन,
(वह कूड़ा जो ढँक देता है बचे-खुचे पत्रों में के स्थल)।
कविता क्या है ? स्वप्न श्वास है उन्मन कोमल,
(जो न समझ में आता कवि के भी ऐसा है वह मूरखपन)
कविता क्या है ? आदिम-कवि की दृग-झारी से बरसा वारी-
(वे पंक्तियाँ जो कि गद्य हैं कहला सकती नहीं बिचारी) !

छलना

हेमन्ती सन्ध्या है, सूरज जल्दी ही डूबा जाता है-
मन भी आज अकारज चिर-प्रवास से क्यों ऊबा जाता है ?
फ़सल कट गयी, कहीं गड़रिया बचे-खुचे पशु हाँक रहा है,
सान्ध्य-क्षितिज पर कोई अंजन, म्लान-गूढ़ छवि आँक रहा है।
बचे-खुचे पंछी भी लौटे, घर का मोह अजब बलमय है,
मानव से प्रकृति की छलना, प्रकृति से मानव छलमय है !

बादल बरसै मूसलधार

बादल बरसै मूसलधार
चरवाहा आमों के नीचे खड़ा किसी को रहा पुकार
एक रस जीवन पावस अपरम्पार
मेघों का उस क्षितिजकूल तक पता न पाऊँ
कि कैसा घुलमिल है संसार
—एक धुन्ध है प्यार····
बहना है
यह सुख कहना क्या
उठना-गिरना लहर-दोल पर
हिय की घुण्डी मुक्त खोल कर
पर उस दूर किसी नीलम-घाटी से यह क्या बारम्बार—
चमक-चमक उठता है ?
बिम्बित आंखों में अभिसार····
आज दूर के सम्मोहन ने यात्रामय कर डाला
बिखर गया वह संचित सुधि-धन जो युग-युग से पाला।
पर यह निराकार आधार
कहाँ से सीटी बजा रहा है
बुला रहा है, पर बेकार—
यहाँ से छुट्टी रज़ा कहाँ है ?
गैयाँ चरती हैं उस पार
दूर धबीले चिह्न मात्र हैं
जमना लहरै तज बन्ध—
बादल बरसै मूसलधार !

काशी के घाट पर

निशि मेघाकुल····
अमित असित धूमिल मेघों से भरा हुआ नभ का पड़ाव
शशि की झिलमिल—
छोटी-सी लहरों में डगमग पथहीन नाव
किस मृगनैनी की चपल-चपल—
चितवन की सुधि से परिचालित युव-मनोभाव !
शशि न, किसी का दिल
रह-रह कस के, स्मर कर प्रिय का दुराव—
छिन में आलोकित हो उठती शत-शत तरंग
मन में आलोड़ित सौ उमंग, सिहरते अंग
उड़-उड़ जाते हैं सुधि-विहंग
कुछ दिशा-रहित, कुछ लक्ष्य-भ्रान्त
कुछ सखा-सहित, कुछ यों असंग–
सब ही अशान्त;
ज्योत्स्ना का छिन में कुम्हलाता
लहरिल सम्मोहक मदिर मान
जोगी हो मोहातुर गाता
मन में तुषार-मय विदा-गान :
'प्रत्यक्ष भाव जब सपनों की संचित रुझान
जब बाँध रखे वक्ष से वक्ष
बाँहों में भर कर विकल बाँह
जाना था किस ने नेह राह का
यह विषाक्त भवितव्य, आह !
बँधना प्राणों से मुक्त प्राण····
है दक्ष-यज्ञ का संविधान

उर की ऊमा का लक्ष-लक्ष अंशों में पाना मरण-दान !'
अब डोंगी भी हिल-डोल उठी, पा कर गंगा का दूर तीर
मनुआ अधीर, नयन के नीर से बोझिल गहरी बिसुध पीर
छितरा-छितरा-सा व्योमघाट पर छायाभा का अजब साथ–
आख़िर उर में भी डोल उठी, कुछ' मावस, कुछ रुपहली रात !

छू चली पुरातन नेह-वात
रोमल हो उठे गात-गात ।

टिम-टिम तारा ऊपर सभीत
खेया का कम्पित-कण्ठ गीत
आ भर लूँ हिय में तुझे मीत ···
आ पास और उत्कटता से···

उत्ताल लहर की मर्ज़ी पर
खो दें जीवन पल-कल्प-प्रहर;
एकान्त सत्य बहते रहना—
निज बिथा किसी से क्या कहना ?
सुधि-सम्बल ले चिर-एकाकी
बस सफ़र-सफ़र;

आ पास और तन्मयता से—

अब इन लहरों की मर्ज़ी पर,
मिल कर जीवन में जीवन-स्वर,
हो जायें अमर, निर्भर, अन्तर
उत्ताल तरंगों की गति पर—

क्या पता कहाँ आना-जाना क्या कूलों की परवाह, पिया !
इस क्षण दो ओठों में गाना दो ओठों में हो चाह, पिया !
वह हिलराता मदमाता हो, मौजें लेता दरियाव, पिया !
मेघों में मुँह ढाँके मयंक, सुधि मन में गिनती घाव पिया !

अश्वत्थ

१

सन्ध्या की उदास छायाएँ
पीपल का यह सघन बसेरा
लौट रहा खग-कुल आकुल-मन
कोलाहल मय प्रति कोटर-वन
सुदूर एकाकी तारक ज्यों
गीत अकेला-सा यह मेरा····

२

भूरे नभ में रात उतरती
शिशिर साँझ की धुंधली बेला
पीपल का विराट् श्यामल वपु
खड़ा हुआ कंकाल अकेला
एक चील का क्षीण घोंसला
क्षीण, तीज की पीत शशिकला
अटके हैं ज्यों जीर्ण देह में
बचा मोह का तन्तु विषैला।

३

मधु-ऋतु की सकाल अरुणाली
उसी एक पीपल की झाँकी
पुनः पनप कर हरी कोंपलों ने
विवशन-शाखें भी ढाँकीं
फिर से आ बसते हैं पाखी
जग में लहरी नूतनता की
पर मैं वैसा ही बाक़ी हूँ
वैसी ही कड़ियाँ एकाकी।

मैं और ख़ाली चा की प्याली

१

आज प्रात ही कुछ धुँधली है, पाटल कलिका की पलकों पर—
पहली रिमझिम की बूँदें हैं। हरित, स्नात, चेतोहर कोंपल।
वर्षा का दिन, बादल अनगिन, निरख रहा हूँ मलिन व अमलिन
एक-एक छिन चुके सुखाशा के साथी, अब हूँ संगी बिन···
मुझे कौन दे संजीवन ? दिल का थाला कब से ख़ाली है
शून्य दिशाएँ आँधी-लक्षण, मैं हूँ, यह चा की प्याली है।
बादल सागर की आशीषें, या कि धरित्री का प्रतिऋण है ?
करुण-सजल बातास, अकेलापन क्यों मानव को दारुण हैं ?
क्यों है दाहक चाह कि मस्ती में कोई सपना झकझोरूँ
क्यों यह नाहक़ राह सत्य की भाती नहीं, आह दिल चोरूँ ?
खिला बाग़ है, मिला चोंच, भीगे पर सिमटाये दो चिड़ियाँ
बिजली के तारों पर टप्-टप् टूट रहीं बूँदों की कड़ियाँ !
आसमान है म्लान कहीं से सुनता हूँ भूपाली की गत····
क्यों हैं ये दीवारें अधबिच ? क्या था गत औ' कौन अनागत !

२

आधी जागृति, आधा सपना। मन में घुमड़न धूम मची रे
सरिता तट पर सिकता फैली, रजत चाँदनी नरम बिछी रे।
गत उत्कट है, भूखी-सी उस पार बज रही दूर नफ़ीरी
उस गत में है बाट किसी की जोही गयी व ठाठ अमीरी
मैं अपने सूने कमरे में मोटे ग्रन्थों में डूबा—
जूझ रहा हूँ उस मस्तिष्क-प्रधान शिला से, कब ऊबा हूँ ?
क्या है 'प्रमा', और क्या 'मोनेड', क्या है यह
'अध्यास', 'प्रकृति' ?

क्या फ़िख्टे की अलग धारणा ? ब्रैड्ले की मान्यता विकृति ?
सब मरुभूमि प्राय: लगते हैं बूढ़े, कुरूप ये दर्शन-गुरु
बिस्मिल्ला ही ग़लत, न करते हैं क्यों शुरूआत जीवन से ?
सुरूं की तरुधारा····ताज मन्द-गन्ध, लोभान' रु अगुरू
पुरूरवा मुझ में जागा है : विवस्त्र ऊरु तिर रहे मन में····
'छिः' कोई आ कर यों बोला 'छाया है यह क्षणिक-शरीरी'
फिर भी आन जुड़े थे ओठों से क्यों ओठ कभी वे शीरीं !

३

डाली-डाली पर कलियाँ हैं, उन्नत-भाल तमाल, चिर-हरे,
पर्ण-वर्ण-संचय, फ़व्वारे, युक्लिप्टस के पेड़ छरहरे;
उपवन ही ठहरा फिर क्यों न अनेकों होंगे वाँ खुश-चेहरे
पर इस चह-चह के पीछे है क्या कोई गहरे में 'वह' रे
जिस की विफल अनन्त प्रतीक्षा में बैठा हूँ याँ एकाकी
माली आता है, सुगन्ध के रहने देता सुमन न बाक़ी।
रूप-गन्ध का समाँ बँधा है, पर सब कुछ लगता जाली है
किस ने पैठ यहाँ अन्तरतम की वह सच्चाई पा ली है ?
दूर दिशाएँ नहा रही हैं, झीना 'जीवन-पट' छोड़ा है
बुद्धि-भेद की सीमाएँ हैं, दृष्टि-ज्ञान थोड़ा-थोड़ा है····
कब तक मग़ज़ मारता बैठूँ तुम से काण्ट और बोज़ाँ के
तर्क घुला जाता है बांके, उधड़ रहे सीने के टाँके····
जीवन धोखा है, तो हो, यह प्यार कभी जोखों से खाली ?
यह सब एक विराट् व्यंग्य है, मैं हूँ, सच, औ' चा की प्याली !

बीसवीं सदी

बीसवीं सदी ने हमें क्या दिया ?
मोटर, रेल, विमान, क्रान्तियाँ····
यह बेतार, सवाक् चित्रपट,
काग़ज़-मुद्रा, आर्थिक-संकट,
गति-अतिशयता, वेगातुरता····
कहीं प्रपीड़न, कहीं प्रचुरता !
इन सारे आविष्कारों ने
जग को उन्नत किस तरह किया ?
क्रय-विक्रय के संस्कारों ने
और आलसी हमें कर दिया।
बढ़ती शोषण-यन्त्र-क्रिया
बीसवीं सदी ने यही दिया ?
जब कि एक वाहन नवीन—
आया, त्यों, हो उस में सवार
कितने समझे निज को कुलीन।
औ' श्रमिक बिचारा मलिन-दीन
हो गया हमें ही नागवार।
इस को ही संस्कृति-प्रगति कहा ?
बीसवीं सदी ने यही दिया ?
जब कि किसी के घर अनेक—
जलते हों विद्युद्दीप, देख !
तब होगी ही कोई कुटिया
जिस में जलता होगा न दिया !
बीसवीं-सदी ने यही दिया ?
उन्मूलित कर दी दान-दया !

जब रूस विश्व के साम्य-राज्य
की करता इतनी बड़ी बात,
तब भारत में भी क्यों अनाज
भेजा ? यह तो है सिर्फ़ स्वार्थ !
बीसवीं सदी ने यही दिया ?
मानव को मानव का भक्षण
मानव को निज-संरक्षण का
परवाना सब को बाँट दिया—
जीवन संघर्ष बढ़ा यों तक
उस हाथ दिया, इस हाथ लिया !
देखा न पुण्य अथवा पातक,
जिस ने मारा, बस वही जिया।
बीसवीं सदी ने यही दिया ?
पूँजी के युग का अस्तकाल,
यह है जब सुन लो यही हाल :
इक ओर पड़ेगा रे अकाल,
दूसरी ओर धन से बिहाल !
पूँजीशाही के अन्तर्गत
बढ़ता जायेगा जब विरोध
आदर्श हो चले सब स्वर्गत,
वास्तवता का जंग पड़ा बोध,
सब का ही पर्दाफ़ाश किया,
बीसवीं सदी ने यही दिया ?

कापालिक

कापालिक हँसता है।
पगले तू क्यों उस में फँसता है ? रे दुनियादारी !
यह महीन मलमल की सारी
उस के नीचे नरम गुलाबी चोली से ये कसे हुए
पीनोन्नत स्तन
यह कुंकुम-अक्षत से चर्चित माथा, यह तन
किसी सुहागिन को अर्थी पर
बड़ी-बड़ी चीलों के मानो तीक्ष्ण चक्षु ये बसे हुए पर
जीवन याँ सस्ता है
मरना यहाँ नहीं डँसता है
कापालिक हँसता है।

मरघट
औघड़ का मठ
चट-चट-खट-खट जलती हड्डी-मज्जा, झटपट
कुत्ते भौंक रहे हैं, हो-हो—
स्यारों की यकसाँ चिल्लाहट, छीन, औ' झपट !
नदी किनारा
डूब रहा सायं-तारा
चीख किसी पंक्षी की चीं-चीं
जिस के अण्डों और घोंसले पर भूखे-से
किसी बाज़ ने छापा मारा।
क्या यों इकटक देख रहे हो
सुन्दर सत्य तुम्हारा, वैसा
यही असुन्दर सत्य हमारा।
परवशता है।

और नदी की धारा में भी, लो कृशता है,
मोह-छोह हम को ग्रसता है
कापालिक हँसता है।

यही प्यार की नाटक-भाषा
यही दिलजलों का न तमाशा !
मरी सुहागिन, दो दिन बीते
त्यों ही नये ब्याह की आशा ?
पंछी चीं-चीं कर थकने पर
पुनः नया तरु
नया-नया घर, नवीन कोटर
यही तुम्हारी प्रामाणिकता ?
जिस का अर्थ क्षणिकता।
सिकता-सिकता....केवल सिकता
किस ने पाया है रे 'जीवन' ?
वह तो 'पारा'।
यहाँ आज सब कुछ है बिकता
हृदय और ईमान, देवता !
सब ममता की यहाँ दिखावट
शून्य, खोखली और बनावट।
सभी स्वार्थमय यहाँ बुलाहट,
किस ने पायी सच्ची आहट....

किस ने जाना वह रस्ता है
किस ने पाया वह रस्ता है
कापालिक केवल हँसता है

अट्टहास करता है, आंखें लाल-लाल
चहुँ ओर डाल
हँसता है

कापालिक केवल हँसता है।

पुनश्च

अब मुझे अपने पुराने वक्तव्य में एक अक्षर भी जोड़ने की ज़रूरत नहीं जान पड़ती। सिर्फ़ एक शब्द (या संज्ञा) घटाना चाहता हूँ, और वह है 'निराला' और 'नवीन' के साथ दिया हुआ नरेन्द्र शर्मा का नाम। यह नहीं कि उन के 'मिट्टी और फूल' या 'कामिनी' मुझे अब कम प्रिय हैं, परन्तु उन की बाद की कृतियों ने मुझे उस तरह प्रेरित-प्रभावित नहीं किया जैसे 'निराला' या 'नवीन' ने।

तीन बातें यहाँ कहना चाहता हूँ। एक : हिन्दी कविता के गये बीस वर्ष काफ़ी उठा-पटक, आवर्तन-प्रत्यावर्तन, वाद-विवाद के बीते। इस शोर-शराबे में कभी-कभी मेरी आवाज़ भी तूती जैसी बोलती रही थी। अब मैं सारे आलोचन-प्रत्यालोचन से ऊब गया हूँ। जिस साहित्य में नये प्रयोगों को प्रतिष्ठित होने में बीस साल लगें, आज के वैज्ञानिक गति-प्रधान युग में, उस के बारे में कुछ भी कहना व्यर्थ है। मैं मानता हूँ कि 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' (और अब शायद 'अभिनव कविता' ?) के नाम पर बहुत बकवास छपती रहती है; और उस पर अस्सी प्रतिशत चर्चा (विशेषतया विश्वविद्यालयों में) अज्ञान और पूर्वग्रह से दूषित होती है; या थोथे, असंगत और बेमानी आक्षेप होते हैं। इस लिए ये दोनों मुझे नहीं छूते। मैं 'रोमांटिक फ़ैलेसी' में नहीं पड़ना चाहता। ताज़ी प्रज्ञा के साथ नित्य-नूतन नव-नवीन प्रयोगशीलता की महत्ता मानता हूँ। हमारे छाया (—वाद) और प्रगति (—वाद) दोनों ही 'रोमांटिक फ़ैलेसी' के शिकार थे। उन्होंने हमारी आलोचना को भी नाहक़ धुँधला बनाया।

दूसरे : आलोचकों ने 'सप्तक' के कवियों पर ग़ोल बाँध कर कोई 'वाद' चलाने या गुटबन्दी करने का जो आरोप लगाया वह सरासर झूठ है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं गर्व के साथ कह सकता हूँ कि मेरी कविता पर एक अक्षर या एक पंक्ति भी पक्ष में या विपक्ष में, अन्य छह मित्रों ने न लिखी न छपवायी। मैं ने अवश्य 'अज्ञेय', भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर और गजानन मुक्तिबोध की कविता पर लेखों में, पुस्तकों में, भाषणों में चर्चा की है; स्पष्ट सम्मतियाँ दी हैं। रामविलास शर्मा की विद्वत्ता का मैं आदर करता हूँ, उन के कठमुल्लेपन का उतना ही विरोध भी। पर यह सब काम ग़ोल बाँध कर, मोर्चा बना कर या संघबद्ध प्रोग्राम की तरह मैं ने कभी नहीं किया। माचवे का ज़मीर इस मामले में मुक्त है।

तीसरे : और यह बात मुझे न कहनी पड़ती तो अच्छा होता— 'अज्ञेय' ने 'विशाल भारत' में जनवरी १९३८ में मेरी 'दो इम्प्रेशनिस्ट कविताएँ' छापी थीं तब मैं शायद हिन्दी के अधिक निकट था। आज मैं अपने आप को द्विभाषी मानता हूँ। एक अहिन्दी-भाषी जब हिन्दी में रचना करता है, तो अपने साथ एक भाव-विश्व, एक खास रंगत, एक तरह का अलग अन्दाज़ और ख़ुशबू भी लाता है—अनजाने। मैं इस स्थिति के लिए कोई रियायत नहीं माँगता हूँ, न मेरा कोई दावा है। नम्र निवेदन है कि मेरी हिन्दी एक मराठी-भाषी की हिन्दी है। कविता और भाषा का सूक्ष्म सम्बन्ध जानने वालों के लिए इतना इशारा काफ़ी है!

—प्रभाकर माचवे

पालतू

पहले उस ने पाले कुछ पिल्ले
बड़े हुए, भाग गये;
पालीं कुछ बिल्लियाँ, वे
दोस्तों को दे दीं।
फिर पालीं कुछ लाल मछलियाँ,
वे मर गयीं;
पाला एक तोता, जो उड़ गया।
जोड़े का एक बचा
उठा गयी मित्र की बिडाली उसे
पालने की यह आदत
कम न हुई।
सुना है कि आजकल, रखे हैं कुछ आदमी
पालतू :
फ़ालतू !
होगा क्या उन का ?
(मार देंगे पड़ोसी के बड़े बम ?
फिर भी नहीं होंगे कम)।

—'स्वप्न-भंग' (१९५७) से

माता की मृत्यु पर

मातः ! एक कलख है मन में, अन्त समय मैं देख न पाया
आत्मकीर के उड़ जाने पर बची शून्य पिंजर-सी काया।
और देख कर भी क्या करता ? सब विज्ञान जहाँ पर हारे,
उस देहली को पार कर गयी, ठिठके हैं हम 'मरण-दुआरे'।
जीवन में कितने दुख झेले, तुम ने कैसा जनम बिताया !
नहीं एक सिसकी भी निकली, रस देकर विष को अपनाया।
आँसू पिये, हास ही केवल हमें दिया, तुम धन्य, विधात्री !
मेरे प्रबल, अदम्य, जुझारू प्राण-पिंड की तुम निर्मात्री।

कितने कष्ट सहे बचपन से, दैन्य, आप्तजनविरह, कसाले,
पर कब इस जन को वह झुलसन लग पायी, ओ सुवर्ण-ज्वाले !
सभी पूत हो गया स्पर्श पा तेरा, कल्मष सभी जल गया,
मेधा का यह स्फीत-भाव औ' अहंकार सब तभी गल गया,
पंचतत्त्व का चोला बदला, पंचतत्त्व में पुनः मिल गया,
पर-अस्तित्व-भवन सूना-सा, यह व्यक्तित्व समूल हिल गया।
मुझे याद आते हैं वे दिन, जब तुम ने की थी परिचर्या,
शैशव में, उस रुग्ण दशा में तेरी वह चिन्तातुर चर्या !

मैं जो कुछ हूँ, आज तुम्हारी ही आशीष, प्रसादी, मूर्ता
गयीं आज तुम देख फुल्लपरिवार, कामना सब सम्पूर्ता
किन्तु हमारी ललक हठीली अब भी तुम्हें देखना चाहे,
नहीं लौट कर आनेवाली, वे अजान, अँधियारी राहें....
मरण जिसे हम साधारण-जन कहते हैं, वह पुरस्सरण है।
क्षण-क्षण उसी ओर श्वासों के बढ़ते जाते चपल-चरण हैं।
फिर भी हम अस्तित्व-मात्र के निर्णय को तज, नियति-चलित-से

कठपुतली बन नाच रहे हैं, ज्यों निर्माल्य प्रवाह-पतित-से !

तुम ने मुझे भक्ति सिखलायी सन्तों की, विट्ठल-से प्रतिश्रुत,
मैं ने कितने धर्मग्रन्थ पढ़ तुम्हें सुनाये हरिलीलामृत !
जीवन-भर तुम रही निरक्षर, आज हुआ 'अक्षर' से परिचय,
ढाई अक्षर प्रेम जान कर, शूल तजे करतीं, मधु-संचय।
मुझे याद है तीर्थस्थान की वे यात्राएँ मेरी माता :
काशी, चित्रकूट, पंढरपुर, अक्षयवट, मथुरा, मान्धाता !
और अपापा नगरी में उस महाकाल की भैरव-अर्चा,
जिस 'शिव' ने चिन्मय हो कर, चिर-चिताभस्म
ले निज तन चर्चा !

अम्ब ! आज वे सभी कथाएँ मात्र तुम्हारी-मेरी हो कर,
तिलांजली में अश्रु भिगो कर, जाती हैं प्रस्तर-पथ धो कर !
कौषीतक्युपनिषद् गा रहे वागादिक का सम्प्रदान यह,
जो कुछ तुम कर्त्तव्य कह गयीं, वही करूँगा मैं महान् अह !
"यदि उ वै प्रयात् यत् एव एनं समापयति—
तथा समापयितव्यो भवति तथा समापयितव्यो भवति"।

युग-युग से वैरागीपन का सीखे हम बेगाना गाना,
'ज्यों बिम्बहिं प्रतिबिम्ब समाना; उदक-कुम्भ बिगराना !'
पर रह जाती है कबीर की साखी, सब दर्शन की कीलें—
तेरी स्मृति से खुल-खुल जाहीं, हो ही जाते हैं दृग गीले।

बहुत सिखाया तुम ने हम को, हम ये आँसू रोकें !
पर अब तुम ही नहीं आद्यगुरु ! पाठ भूलते रो के
मन के गहरे में जो है व्रण, जो अभाव-कसकन है,
उस नीरव प्रचण्ड हाहा के अंशमात्र दो-दस दृग-कण हैं !

वह अभाव आ-चिता हमें तो कन्धे पर ढोना है—
इस सलीब से शायद ईशू बनें, हमें दो आशीः !

परम सहज, निर्द्वन्द्व, मौन की प्रतिमे ओ ममतामयि !
हमें सिखा दो उस अपार धीरज की कनि क्षमतामयि !
सहसा यों लगता है, जैसे छत सिर पर से भागा,
आठ दिशा का रोष बढ़ा, मैं खड़ा, अरक्षित और अभागा !
पिता अजाने वय में, माता भी अब स्वर्ग सिधारी
और रही स्मृति मात्र धूल में, उलझी गति मतिहारी !

कठिन आयुपथ, इस दुरन्त मरु में छाया से शून्य संक्रमण,
कठिन स्नेह के बिना बिताना ये आगे की घड़ियाँ अकरुण ।
जातकर्म के मन्त्र अकारण याद आ रहे "हे सरस्वती !
तेरा स्तन्य किसी ने पाया नहीं, सुप्त वह !" याज्ञवल्क्यस्मृति :
"ॐ इमं स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन् समुद्रियं सदनमाविशस्व ॥
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः ।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः[1] ॥

—'अनुक्षण' (१९५९) से

---

१. "हे अग्नि ! उदकलोक में रहने वाला तू विविष्ट रसयुक्त दुग्ध से परिपूर्ण यह स्तन इस कुमार को पीने को दे । सर्वत्र गमनशील और स्वादयुक्त मातृस्तन का सेवन कर, तृप्त हो कर, पयोधि की भाँति मातृ-शरीर को ग्रहण कर । हे सरस्वती ! तेरा स्तन किसी ने उपभोगा नहीं, इस लिए सुप्त है । जो स्तन सब प्राणिमात्र को सुख देने वाला और जो किसी को भी दुनिया में दी नहीं जा सकती, वह वस्तु देने वाला है । वह स्तन इस बालक को पीने को दे !

डरू संस्कृति

जो कुछ करना भाई वह सब करना, लेकिन डरते-डरते !
जीना हो तो डरते-डरते, मरना लेकिन डरते-डरते !
प्रेम करो तो चोरी-छुपके, देख-फूँक कर दायें-बायें,
स्त्री से रति भी डरते-डरते (कहीं न आबादी बढ़ जाये)
दफ़्तर में अफ़सर से डरते, साहस कहीं भी न दिखलाओ
गाड़ी में ड्राइवर से डरते, चिकनी-चुपड़ो गाते जाओ !
कहीं तुम्हारे मित्र उभरते, कहीं तुम्हारे पुत्र उभरते,
हों तो उन की सभी उमंगों पर डालो तुम पानी ठण्डा
ध्यान रखो मुर्ग़ी बन पाये कहीं न यह इच्छा का अण्डा !
कोई मिले अपरिचित चाहे, कर जोड़ा, जोड़ो दो बाँहें ।
सभी धर्म हैं प्यारे रस्ते, नेता हैं साक्षात् फ़रिश्ते ।
दीवारों पर टाँगो भैया, गान्धी, शिवजी, और सुरैया,
एक साथ ही एक पाँत में, तसवीरों को करो नमस्ते !
साँसें लो डॉक्टर से डर के, रोटी लो बेकर से डर के !!

—'तेल की पकौड़ियाँ' (१९६२) से

• •

५

गिरिजाकुमार माथुर

[माथुर, गिरिजाकुमार : जन्म १९१८ में मध्यप्रान्त के एक क़स्बे में हुआ। लखनऊ विश्वविद्यालय से अँगरेज़ी साहित्य में एम० ए० तथा एल-एल० बी० पास किया। कुछ समय तक वकालत की; उस के बाद नयी दिल्ली में सेक्रेटेरियेट में काम किया; अब ऑल इंडिया रेडियो में हैं।

कविता के अतिरिक्त 'एकांकी नाटक, आलोचना, ऑपेरा तथा शास्त्रीय विषयों' पर लिखते रहते हैं। अन्य कलाओं में संगीत का विशेष अध्ययन किया है। 'मन्दार' नाम का एक कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुका है]

१९४३ से—

'मंजीर', 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान', 'शिलापंख चमकीले', आदि और कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, और एक खण्ड-काव्य 'पृथ्वी कल्प' और एक कविता-संग्रह 'असिद्ध की व्यथा' प्रकाशित होने वाला है। बीच में 'आकाशवाणी' छोड़ कर संयुक्त राष्ट्र रेडियो में अमरीका चले गये थे जहाँ दो वर्ष रहे; अब फिर 'आकाशवाणी' में अधिकारी हैं।]

वक्तव्य

विषय और टेकनीक—कविता में विषय से अधिक टेकनीक पर ध्यान दिया है। विषय की मौलिकता का पक्षपाती होते हुए भी मेरा विश्वास है कि टेकनीक के अभाव में कविता अधूरी रह जाती है। इसी कारण चित्र को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं वातावरण के रंग उस में भरता रहा हूँ। कहीं-कहीं केवल वातावरण के चित्रण से ही विषय इंगित किया है। जैसे 'कुतुब के खण्डहर' अथवा 'रुक कर जाती हुई रात' नामक कविताओं में केवल वहाँ का वातावरण चित्रित किया है। प्रत्येक कविता में प्रथम उस की आधार-भूमि निर्माण करना आवश्यक समझता हूँ, जैसे 'रेडियम की छाया', 'क्वाँर की दोपहरी' अथवा 'विजय-दशमी' नामक कविताओं के प्रथम बन्द हैं। वातावरण चित्रण के 'डिटेल' में मैं ने रंगों का आधार विशेष रूप से रखा है, किन्तु मैं चित्र को सदा हलके रंगों की छाँहों के आवरण में लिपटा पसन्द करता हूँ। क्योंकि यथार्थ चित्र के सभी डिटेल मैं कला की दूरी से देखता रहा हूँ। मेरा यह विश्वास है कि अत्यधिक गहरे रंगों का प्रयोग कला में प्राचीनता (मेडीवल ट्रेट) का द्योतक है। क्लासिकल विषयों पर गम्भीर शैली (ग्रैंड स्टाइल) में लिखी कविताओं में मैं ने गहरे रंग प्राचीनता लाने के लिए ही रखे हैं। यहाँ मैं ने आधारभूमि विशालकाय कर दी है और डिटेल कम। डिटेल मैं ने रोमानी कविताओं में ही अधिक भरे हैं। इस के अतिरिक्त मैं चित्रकला की 'तीन दूरियाँ, चित्र के पूर्णत्व (राउंडिंग-अप) के लिए यत्र-तत्र लाया हूँ।

भाषा और व्यंजना—रोमानी कविताओं में मैं ने छोटी और मीठी ध्वनि वाले बोलचाल के शब्द प्रयुक्त किये हैं। रोमानी कविताएँ मैं हिन्दुस्तानी भाषा में ही लिखना पसन्द करता हूँ। क्लासिकल कविताओं

में आर्य-गुण लाने के लिए बड़ी लम्बी और गम्भीर ध्वनि वाले शब्द रखे हैं। अभिव्यंजनात्मक शब्द-विन्यास वातावरण के रूप-भाव के अनुकूल नये बनाये हैं—जैसे पतला नभ, सिमटी किरन, आदिम छाँहें, घूमते स्वर आदि। क्योंकि मैं व्यंजना को वातावरण के लघु चित्र अथवा प्रतीक का रूप दे देता हूँ। कहीं-कहीं नये शब्द वातावरण का ध्वनि-भाव ले कर बनाये हैं, जैसे सूनसान, खँडेरों आदि। उदाहरणार्थ 'सूनसान' शब्द लीजिए। 'शून्यता', 'सूनापन', 'सुनसान' सभी शब्द उस ध्वनि भाव के साथ निर्बल प्रतीत हुए। 'शून्य' में एक खोखलापन है, 'सूनापन' में दो स्वर-ध्वनियों की तेज़ी के बाद ही अन्त की व्यंजन-ध्वनियाँ गति को समाप्त कर देती हैं, रोक देती हैं। 'सुनसान' सब से निर्बल है, क्योंकि इस में केवल एक स्वर ध्वनि है और आरम्भ की दो व्यंजन-ध्वनियों से शब्द निर्गति है। 'सूनसान' में 'ऊ' की ध्वनि लम्बाई और दूरी व्यक्त करती है, 'आ' की ध्वनि विस्तार। बीच में 'न' की ध्वनि सनसनाहट और गहराई व्यक्त करती है। इस प्रकार 'सूनसान' शब्द का ध्वनि-भाव 'आं ऊं' हो जाता है जो गहरे सुनसान का यथार्थ रूप है। इसी प्रकार अन्य शब्द भी हैं। विस्तार के कारण प्रत्येक नये शब्द का अर्थ नहीं दे सकता।

छन्द तथा ध्वनि-विधान—कविता में मुक्त छन्द ही पसन्द करता हूँ। मुक्त छन्द में अधिकतर मैं ने विरामान्त (एण्ड स्टॉप) पंक्तियाँ नहीं रखीं। धारावाहिक (रन ऑन) ही रखी हैं। आगत पंक्ति के आरम्भ में विगत पंक्ति की ध्वनि सम संगीत उत्पन्न करने के लिए वर्तमान रहने दी है। क्योंकि बिना इस के ध्वनि-सामंजस्य (सिम्पैथेटिक वाइब्रेशन) उत्पन्न नहीं हो पाता। इसी कारण मैं मुक्त छन्द में संगीत-प्रधान गीत सम्भव कर सका हूँ जिन्हें गाते समय तुक की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जैसे 'रेडियम की छाया', 'वसन्त-पंचमी' आदि हैं।

मुक्त छन्द का मैं ने सम्पूर्ण विधान रचा है। मुक्त छन्द को दो भागों में विभक्त किया है, वर्णिक और मात्रिक तथा इन के रूपान्तर। वर्णिक में मैं कवित्त के विरामों को उन के रूपान्तर-सहित ले कर चला हूँ। यह आवश्यक नहीं रखा कि कवित्त के पूर्ण विरामों पर ही पंक्ति समाप्त हो, किन्तु अर्ध-विराम भी शुद्ध माने हैं, जब तक वे अनुच्चरित (अन्-ऐक्सेंटेड) वर्ण पर समाप्त न हो कर उच्चरित (एक्सेंटेड) पर समाप्त होते हों। इस भाँति कवित्त के विरामों को ले कर कितने ही प्रकार की मुक्त-

छन्द-पंक्तियाँ निर्मित की हैं। सवैये के विरामों पर स्थित एक नये प्रकार का बहुत संगीतमय मुक्त छन्द लिखा है ('आज हैं केसर रंग रँगे')। एक कविता में एक ही प्रकार का मुक्त छन्द प्रयुक्त होना आवश्यक समझता हूँ। यदि उच्चरित वर्ण-विन्यास (सिलेबल) से पंक्ति आरम्भ हुई हो तो समस्त पंक्तियाँ उच्चरित से ही प्रारम्भ होनी चाहिए। विरामान्त पंक्तियों में यह नियम अनिवार्य कर दिया है। धारावाहिनी पंक्तियों में भी प्रथम पंक्ति का अर्ध-विराम द्वितीय पंक्ति में लेने का नियम रखा है। पंक्तियों के विरामों की ध्वनि-मात्राएँ पूर्णतः सम एवं शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ। इन नियमों के विरुद्ध लिखा गया मुक्त छन्द अशुद्ध मानता हूँ।

ध्वनि-विधान में मेरे प्रयोग मुख्यतः स्वर-ध्वनियों के हैं। व्यंजन-ध्वनियों से उत्पादित संगीत को मैं कविता में संगीत नहीं मानता। प्रत्युत रीति-कालीन रूढ़ि समझता हूँ। छायावादी कवियों में इसी कारण मैं कोई संगीत नहीं देखता क्योंकि उन का संगीत व्यंजन-ध्वनियों से निर्मित है। और व्यंजन-ध्वनियों का संगीत, बाह्य, अस्थायी एवं मृत है। वह आकार का संगीत है, शब्द की आत्मा का संगीत नहीं। शब्द की आत्मा स्वर-ध्वनि है, इसी कारण उस पर अवलम्बित संगीत आन्तरिक, गम्भीर और स्थायी है। वह आकाश-तत्त्व का संगीत है। वातावरण-निर्माण में मैं ने इसी की सब से अधिक सहायता ली है। मुक्त छन्द के अन्तःसंगीत में इन्हीं ध्वनियों की गूँजें बुनी हैं। इसी नियम को ले कर मैं ने स्वर-ध्वनियों का मूल्यांकन किया है। मैं ने छहों स्वरों के सम्पूर्ण प्रभावों को ले कर उन का निश्चित रूप एवं आकार निर्धारित किया है। 'आ' ध्वनि का रूप है, विस्तार; 'इ' ध्वनि का रूप है आनत, ऊँचाई; 'ऊ' ध्वनि में दूरी, 'ए' ध्वनि में ऊर्ध्वगति, 'ओ' ध्वनि में वस्तु का 'व्योम' तथा भीम-प्रवाह, और 'ऊं' में गहराई और गाम्भीर्य है। इस मूल्यांकन के बल पर मैं ने विभिन्न वातावरण निर्माण किये हैं। जहाँ जिस वस्तु का इंगित करना होता है वहाँ उस ध्वनि का उतना ही प्रयोग है। इस प्रकार न केवल वर्णन से ही दृश्य स्पष्ट किया है किन्तु ध्वनियों से भी उस का चित्र खींचा है। इन स्वरों की शक्ति, स्वरूप और रंग तथा उस का प्रभाव-गुण स्थापित किया है। प्रत्येक स्वर के स्वरूप पर कविताएँ लिखी हैं। क्योंकि मेरा विश्वास है कि स्वर-ध्वनियाँ आकाश-तत्त्व के विभिन्न रूपान्तर हैं।

—गिरिजाकुमार माथुर

आज हैं केसर रंग रँगे वन

आज हैं केसर रंग रँगे वन
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली-सी
केसर के वसनों में छिपा तन
सोने की छाँह-सा
बोलती आँखों में
पहिले वसन्त के फूल का रंग है।
गोरे कपोलों पै हौले से आ जाती
पहिले ही पहिले के
रंगीन चुम्बन की-सी ललाई।
आज हैं केसर रंग रँगे
गृह, द्वार, नगर, वन
जिन के विभिन्न रंगों में है रँग गयी
पूनो की चन्दन चांदनी।

जीवन में फिर लौटी मिठास है
गीत की आख़िरी मीठी लकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाँहों में
ओठों में, आँखों में
फूलों में डूबे ज्यों
फूल की रेशमी-रेशमी छाँहें।
आज हैं केसर रंग रँगे वन।

रुक कर जाती हुई रात

रुक कर जाती हुई रात का
अन्तिम छाँहों-भरा प्रहर है
श्वेत धुएँ से पतले नभ में
दूर झाँवरे पड़े हुए सोने-से तारे
जगी हुई भारी पलकों से पहरा देते
नींद-भरी मन्दी बयार चलती है
वर्षा-भीगा नगर
भोर के सपने देख रहा है अब भी
लम्बे-लम्बे धुँधले राजपथों में
निशि-भर जली रोशनी की
कुछ थकी उदासी मँड़राती है।
पानी रँगे हुए बँगलों के वातायन से
थकी हुई रंगीनी में डूबा प्रकाश अब भी दिख जाता
रेशम-पर्दों, सेजों, निद्रा-भरे बन्धनों की छाया-सा।

बुझी रात का अभी अखीरी पहर नहीं उतरा है,
दूरी के रेखा-छाँहों से पेड़ों ऊपर
ठण्डा-ठण्डा चाँद ठिठक कर मन्दा होता
नभ की लम्बी साया दूरी तक पड़ती है।

चूड़ी का टुकड़ा

आज अचानक सूनी-सी सन्ध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम में जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं
रंग-भरी उस मिलन-रात में।
मैं वैसा का वैसा ही रह गया सोचता
पिछली बातें
दूज-कोर-से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तसवीरें
सेज सुनहली
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना।
निकल गयीं सपने जैसी वे रातें
याद दिलाने रहा सुहाग-भरा यह टुकड़ा।

रेडियम की छाया

सूनी आधी रात
चाँद-कटोरे की सिकुड़ी कोरों से
मन्द चाँदनी पीता लम्बा कुहरा
सिमट लिपट कर।

दूर-दूर के छाँह-भरे सुनसान पथों में
चलने की आहट ओले-सी जमी पड़ी थी
भूरे पेड़ों का कम्पन भी ठिठुर गया था
कभी-कभी बस
पतझर का सूखा पत्ता गिर कर उड़ जाता
मरे स्वरों से खर-खर करता।
प्रथम मिलन के उस ठण्डे कमरे में
छत के वातायन से
नींद-भरी मन्दी-सी एक किरन भी
थक कर लौट-लौट जाती थी
आलस भरे अँधेरे में
दो काली आँखों-सी चमकीली
एक रेडियम घड़ी सुप्त कोने में चलती
सूनेपन के हल्के स्वर-सी।
उन्हीं रेडियम के अंकों की लघु छाया पर
दो छाँहों का वह चुपचाप मिलन था
उसी रेडियम की हल्की छाया में
चुपके का वह रुका हुआ चुम्बन अंकित था
कमरे की सारी छाँहों के हल्के स्वर-सा
पड़ती थीं जो एक दूसरे में मिल-गुंथ कर।
सूनी-सी उस आधी रात।

कुतुब के खँडहर—

सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी-झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में।
रूखे पतझर-भरे जंगल के टीलों पर
काँप कर चलती समीर हेमन्त की
लम्बी लहर-सी।
दूरी के ठिठुरे-से भूरे-भूरे पेड़ों पर
ठण्डे बबूले बना धूल छा जाती थी—
रेतीले पैरों से धीरे ही दाब कर
काई से काले पड़े ध्वंस राजमहलों को,
पत्थर के ढेर बने मन्दिर-मज़ारों को,
जिन से अब रोज़ साँझ कुहरा निकलता था
प्यासे सपनों की मँडराती हुई छाँह-सा।
गूँजता था सूनसान—
ऊजड़ खण्डेरों में
गिरते थे पत्ते,
वन-पंछी नहीं बोलते थे,
नाले की धार किनारे से लगी जाती थी।

पानी भरे हुए बादल

पानी-भरे हुए भारी बादल से डूबा आसमान है
ऊँचे गुम्बद, मीनारों, शिखरों के ऊपर।
निर्जन धूल-भरी राहों में
विवश उदासी फैल रही है।
कुचले हुए मरे मन-सा है मौन नगर भी,
मज़दूरों का दूरी से रुकता स्वर आता
दोपहरी-सा सूनापन गहरा होता है
याद-भरे बिछुड़न में खोये मेघ-मास में।
भीगे उत्तर से बादल हैं उठते आते
जिधर छोड़ आये हम अपने मन का मोती
कोसों की इस मेघ-भरी दूरी के आगे
एक बिदाई की सन्ध्या में
छोड़ चाँदनी-सी वे बाँहें
आंसू-रुकी मचलती आँखें।

भारी-भारी बादल ऊपर नभ में छाये
निर्जन राहों पर जिन की उदास छाया है
दोपहरी का सूनापन भी गहरा होता
याद-भरे बिछुड़न में डूबे इन कमरों में
खोयी-खोयी आँखों-सी खिड़की के बाहर
रुँधी हवा के एक अचानक झोंके के सँग
दूर देश को जाती रेल सुनाई पड़ती !

क्वाँर की दोपहरी

क्वाँर की सूनी दुपहरी,
श्वेत गरमीले, रुएँ-से बादलों में,
तेज़ सूरज निकलता, फिर डूब जाता।
घरों में सुनसान आलस ऊँघता है,
थकी राहें ठहर कर विश्राम करतीं;
दूर सूनी गली के उस छोर पर से
नीम-नीचे खेलते कुछ बालकों की
मिली-सी आवाज़ आती

रिक्त कमरे की उदासी बढ़ रही है,
दूर के आते स्वरों से।
दूर होता जा रहा हूँ मैं स्वयं ही—
पास की दीवाल पर के चित्र सारे,
शून्य द्वारों पर पड़े रंगीन पर्दे,
वायु की सासों-भरी, एकान्त खिड़की,
वह अकेली-सी घड़ी,
वह दीप ठण्डा
और रातों-जगा वह सूना पलँग भी
दूर होता जा रहा है दूर कितना।
लग सका है कुछ न अपना
ज़िन्दगी-भर दूर ही रहना पड़ा है,
प्यार के सारे जगत् से।

थक रही है क्वाँर की सूनी दुपहरी,
श्वेत हल्के बादलों में सूर्य डूबा

नोम-नीचे बालकों का स्वर मिला-सा छा रहा है
धूल पैरों से हवा में उड़ रही है।
बालकों-सा खेलता मैं ज़िन्दगी में
किन्तु साथी दूर पर बिछुड़ा हमारा !

भीगा दिन

भीगा दिन पश्चिमी तटों में उतर चुका है,
बादल-ढकी रात आती है
धूल-भरी दीपक की लौ पर मन्दे पग धर।
गीली राहें धीरे-धीरे सूनी होतीं
जिन पर बोझल पहियों के लम्बे निशान हैं
माथे पर की सोच-भरी रेखाओं जैसे।
पानी-रँगी दिवालों पर सूने राही की छाया पड़ती
पैरों के धीमे स्वर मर जाते हैं
अनजानी उदास दूरी में।

सील-भरी फुहार-डूबी चलती पुरवाई
बिछुड़न की रातों को ठण्डी-ठण्डी करती
खोये-खोये लुटे हुए ख़ाली कमरे में
गूँज रहीं पिछले रंगीन मिलन की यादें
नींद-भरे आलिंगन में चूड़ी की खिसलन
मीठे अधरों की वे धीमी-धीमी बातें।

ओले-सी ठण्डी बरसात अकेली जाती
दूर-दूर तक भीगी रात घनी होती है
पथ की म्लान लालटेनों पर
पानी की बूँदें लम्बी लकीर बन चू चलती हैं
जिन के बोझल उजियाले के आस-पास
सिमट-सिमट कर सूनापन है गहरा पड़ता;
—दूर देश का आँसू-धुला उदास वह मुखड़ा—
याद-भरा मन खो जाता है
चलने को दूरी तक आती हुई थकी आहट में मिल कर।

एसोसिएशन

कुछ सुनसान दिनों को,
और चाँदनी से ठण्डी-ठण्डी रातों को,
पत्रों की दुनिया से भी हम दूर हुए थे;
आज तुम्हारा सूना-सा सन्देश मिला है,
प्यार दूर का।
मान-गर्व के दो दिन अभी बिताये मैं ने,
गीतों के उस मेले में।
मेल मुझे ले कर उड़ती जाती थी,
रंग-भरे पानी-से चलते उन डिब्बों की एक कोच पर,
सनसन-सनसन वायु वेग से,
घनी वन्य नदियों से छन में पार उतर कर,
पीछे छोड़ नगर-ग्रामों को
कितनी हो पर्वत-माला की घूमों में से।
एक सीध में बनी, खिड़कियों में से हो कर,
कमरों का विद्युत्-प्रकाश बाहर पड़ता था,
तेज़ी से चलती लम्बी लकीर बन-बन कर,
सून-सून करते उन पीछे उड़ते मैदानों में;
हल्के चाँद-भरे जो अनजानो दूरी तक,
वन-फूलों की सोंधी-सी सुगन्ध में डूबे।
लेकिन मैं जाने कितने पीछे चलता था,
एक बरस पहिले की इन ठण्डी आँखों में—
इसी तरह का वह रंगीन दूसरा दर्जा
वायु-वेग से चलता जाता।
जब दूरी तक फैले-फैले,
वन, पर्वत, मैदान उतर कर,
लम्बी, लम्बी-सी तेज़ी से—

तुम उस रेशम-सेज-कोच पर,
देख रहीं उड़ती पहाड़ियाँ खिड़की में से
एक हाथ पर चिबुक टिकाये;
साथ-साथ ही,
वह पहले पियार की यात्रा।
आज दूर हो,
प्राणों से, तन से पीड़ित हो—
मेरी सूनी-सी आँखें हैं,
सूना-सा मेरा घर, आँगन।
चहल-पहल है नगर बीच,
दूर तुम्हारे देश यही सब होता होगा—
यही धूप, उजली कुँआर की यही धूप भी
पंछी, वायु, यही नभ, बादल।
—सून-सून करते मैदानों में से हो कर,
मेल जायगी, निज लम्बी-लम्बी तेज़ी से
प्रतिदिन की ही भाँति आज भी।

विजय दशमी

आसमान की आदिम छायाओं के नीचे,
दक्षिण का वह महासिन्धु अब भी टकराता,
सेतुबन्ध की श्यामल, बहती चट्टानों से ।
आँखों में, वह अन्तरीप के मन्दिर की चोटी उठती है,
जिस पर रोज़ साँझ छा जाते,
युग-युग रंजित, लाल, सुनहले, पीले बादल,
एक पुरातन तूफ़ानी-सी याद दिला कर,
जब, अविलम्ब अग्नि-शर-चाप उठाते ही में,
नभ-चुम्बी, काले पर्वत-सा ज्वाल मिटा था ।
संस्कृतियों पर संस्कृतियों के महल मिट गये,
लौह नींव पर खड़े हुए गढ़, दुर्ग, मिनारें ।
दृढ़ स्तम्भ आधार भंग हो
गिरे, विभिन्न निशान, शास्ति के केतन डूबे ।
महाकाल के भारी पाँवों से न मिट सके,
चित्रकूट, किष्किन्धा, नीलगिरी के जंगल,
पंचवटी की गुँथी हुई अलसायी छाँहें,
वाल्मीकि के मृत्युंजय स्वर ले अपने पर
सरयू, गोदावरी, नील, कृष्णा की धारा ।
प्रेत-भरे इस यन्त्रकाल में,
आज कोटि युग की दूरी से यादें आतीं,
शम्भु-चाप से अविच्छिन्न इतिहास पुराने,
और वज्र-विद्युत् से पूरित अग्नि-नयन वे
जिन में भस्म हुए लंका-से पाप हज़ारों ।
अब भी विजय-मार्ग में वह केतन दिखता है
लौट रहे उस मोर-विनिर्मित कुसुम-यान का,

लम्बे-लम्बे दुख-वियोग की अन्तिम-बेला।
सीता के गोरे, काँटों से भरे चरण वे,
अग्नि-परीक्षाएँ पग-पग की;
घोर जंगलों, नदियों से जब पार उतर कर,
उन बिछुड़े नयनों का सुखमय मिलन हुआ था।
और चतुर्दश वर्षों पहले का प्रभात वह,
सुमन-सेज जब छोड़े तीन सुकुमार मूर्तियाँ,
तर, मण्डित, वन-पथ पर चलीं, तपस्वी बन कर,
राग-रँगोली दुनिया में आते ही आते
आसमान की आदिम छायाओं के नीचे
सेतुबन्ध से सिन्धु आज भी टकराता है।—
पदचिह्नों पर पदचिह्नों के अंक बन गये
कितने स्वर, ध्वनियाँ, कोलाहल डूब गये हैं।
किन्तु सृजन की और मरण की रेखाओं में
चिर ज्वलन्त निष्कम्प एक लौ फिरती जाती,
धरती का तप जिस प्रकाश में पूर्ण हुआ है।
देश, दिशाएँ, काल लोक-सीमा से आगे,
वह त्रिमूर्ति चलती जाती मन के फूलों पर,
अपने श्यामल गौर चरण से पावन करती
वर्षों, सदियों, युगों-युगों के इतिहासों को।

अधूरा गीत

मैं शुरू हुआ मिटने की सीमा-रेखा पर,
रोने में था आरम्भ किन्तु गीतों में मेरा अन्त हुआ।
मैं एक पूर्णता के पथ का कच्चा निशान,
अपनी अपूर्णता में पूरन,
मैं एक अधूरी कथा
कला का मरण-गीत, रोने आया।
मेरी मजबूरी तो देखो—
काली पीली आँधी चलती है गोल-गोल,
धूसर बादल नीचे उतरे
जिन में मुरझाये पत्तों की है धूल-भरी,
मिट गये अचानक अनजाने सपने अमोल,—
बुझ गये दीप पड़ कर पीले
जिन की लौ गरम रखी अब तक।
है अन्त हुआ जाता मेरा
इन अन्तहीन इतिहासों में :
जान कैसी दूरी पर से
मुझ पर लम्बी छाया पड़ती,
किस की आधी आवाज़-भरी
मेरे बोझीले गिरते हुए उतारों में।
मैं अधिकारी ना-होने वाली बातों का,
मैं अनजाना, मैं हूँ अपूर्ण।

दूरी से, कितने देशों की इस दूरी से,
वह महाकाल के मन्दिर की चोटी दिखती
जिस पर छाया था एक साँझ

दूरी की श्यामलता लपेट कर मेघदूत;
वे सोने के सिंहासन की गाती परियाँ,
नव रत्नों का सपना सुन्दर
जो मिट कर एक बार फिर से
था मिटा सीकरी के उन झीलों से अनुरंजित महलों में,
ये सब मोती थे टूट गये।
अब एक और तारा टूटा
लम्बी लकीर बन अलका से,
फिर समा गया
गंगा की गोरज लहरों में।
जीवन का वह रंगीन चाँद
जिस के उजियाले बिना हुआ है जग निर्धन,
जो सुधा-भरा ही डूब गया
काली रेखाओं के आगे
विष की मीठी निद्रा के अन्तिम सागर में।
कमज़ोर सूत के ये डोरे
अनजानी दूरी तक ओझल होकर जाते,
नीली-सी लम्बी उँगली की
रेखा-छाया उलझी-उलझी-सी दिख जाती
ढीले लगते
पर बन्द नहीं होते खिंचने।
सुन्दर चीजें ही मिटती हैं सब से पहले,
यह फूल, चाँदनी, रूप, प्यार,
आँसू के अनगिन ताज़महल,
रागों की ठहरी गूँज,
असम्भव सपनों की सुन्दर मिठास—
स्रष्टा तक मिटता कलाकार के मिटने से,
पर गीतों के इन पिरामिडों,
—इन धौलागिर, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वयं मृत्यु आ कर !

दिख रही मुझे विन्ध्या की अमिट लकीर दूर

वे घने-घने चट्टान-भरे लम्बे जंगल,
नर्मदा, बेतवा, क्षिप्रा की अविलम्ब धार
जिन पर हेमन्त कुहासे-सी छायी रहती
युग से युग तक,
अनजाने इतिहासों की वह अविराम याद ।
वन की श्यामलता की मिठास
अनजानेपन के रंगों से ही रंजित है,
ऐसी छाँहों में पले हुए
ये चट्टानों के फूल
नहीं गल पायेंगे, धुल पायेंगे
निर्बल वर्षों के बोझीले गीले हिम से ।
अब ये वसन्त
कितने सहस्र वर्षों की ममी बना आया
बेहिस, अवाक् ।
ये शिशिर सरीखी बादल-भरी हवा चलती,
रोमाँ की यादें टूट रहीं,
ये मुझे उड़ाती ले जाती वर्षों पीछे
जाड़ों की सन्ध्या का वह अन्तिम प्रहर,
रात, सन्दली चाँदनी से गोरी-गोरी होती :
जब कालिदास की नगरी में
उन गीतों की छाया में मैं भी बैठा था
पहली भी अन्तिम बार वही—
जग ने जिस को मिटने पर ही है पहचाना,
वह चित्र न मुझ पर से उतरा,
उस को ही पूरा करने में
मुझ को भी पूर्ण न होने का वरदान मिला;
मैं चलता जाऊँगा इतिहासों के ऊपर
यद्यपि पाषाण हुआ जाता ।

बुद्ध

आज लौटती आती है पदचाप युगों की,
सदियों पहले का शिव-सुन्दर मूर्तिमान हो
चलता जाता है बोझीले इतिहासों पर
श्वेत हिमालय की लकीर-सा।
प्रतिमाओं-से धुँधले बीते वर्ष आ रहे,
जिन में डूबी दिखती
ध्यान-मग्न तसवीर, बोधि-तरु के नीचे की।
जिसे समय का हिम न प्रलय तक गला सकेगा
देश-देश से अन्तहीन वह छाया लौटी—
और लौटते आते हैं वे मठ, विहार सब,
कपिलवस्तु के भवनों की वह कांचन माला
जब सागर, वन की सीमाएँ लाँघ गये थे
कुटियों के सन्देश प्यार के।
महलों का जब स्वप्न अधूरा
पूर्ण हुआ था शीतल, मिट्टी के स्तूपों की छाया में।

वैभव की वे शिलालेख-सी यादें आतीं,
एक चाँदनी-भरी रात उस राजनगर की,
रनिवासों की नंगी बाँहों-सी रंगीनी
वह रेशमी मिठास मिलन के प्रथम दिनों की—
फीकी पड़ती गयी अचानक;
जाने कैसे मिटे नयन-डोरों के बन्धन
मोह-पाश रोमान, प्यार के
गोपा के सोते मुख की तसवीर सलोनी,
गौतम बनने के पहले किस तरह मिटी थी

तीस वर्ष तक रची राजमदिरा की लाली ।
आलिंगन में बँधा स्वप्न जब
सिन्धु और आकाश हो गया,
महागमन की जिस वैराग्य-भरी बेला में
तप की पहली भोर बनी थी
सेज और सिंहासन की मधु-रात अख़ीरी ।
देख रहे सम्पाति-नयन शिव की सीमा पर
वे शताब्दियों तले दूर देशान्तर फैले
वल्मीकी-से कच्चे मन्दिर, चैत्य, पगोडा,
जिन से शीतलता का कन लेने आते थे
रानी, राजपुत्र भिक्षुक बन ।
फैल गयी थी मिट्टी के अन्तर की बाँहें,
सत्य और सुन्दरता के अविरल संघों से
स्याम, ब्रह्म, जापान, चीन, गान्धार, मलय तक,
दीर्घ विदेशों के अशोक साम्राज्यों ऊपर ।
नहीं रहे वे महावंश अब,
वे कनिष्क-से, शिलादित्य-से नाम हज़ारों,
किन्तु तक्षिला, साँची, सारनाथ के मन्दिर,
और जीति-स्तम्भ धर्म के बोल रहे हैं—
जिस सीमा पर पहुँच न पायीं, हुईं पराजित,
कुफ़्र तोड़ने की, क्रूसेडों की तलवारें
वहाँ विश्व-जय हुई प्यार के एक घूँट से !

पुनश्च

आधुनिक बोध की काव्य-धारा को प्रारम्भ हुए अब चौथाई शती बीत चुकी है, 'तार सप्तक' जिस की प्रथम समवेत अभिव्यक्ति था। जो चेतना-बिम्ब सन् १९३९-४० में उदित हुआ था वह अब तक हिन्दी कविता का सम्पूर्ण क्षितिज आच्छादित कर चुका है और अनेक तीखे संघर्ष तथा विरोधी आघातों के पार आ कर अपनी विलग सत्ता स्थापित कर चुका है। कविता का स्वभाव तथा स्वरूप आज कितना बदल गया है यह सन् १९३५ और १९६५ की किसी भी रचना के तुलनात्मक अध्ययन से देखा जा सकता है। पुरानी मध्ययुगीन मूल्य-दृष्टि, भावुकतापूर्ण रोमान, कल्पना-प्रधान सांस्कृतिक-बोध, तथा धरातलीय उदारवाद (जिसे हिन्दी में 'मानवतावाद' अथवा तथाकथित 'भारतीय परम्परा' की संज्ञा दी जाती है) के धुन्ध को इस नयी संवेदनशीलता और वस्तुपरक, सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि ने सदा के लिए मिटा दिया है। सामाजिक दायित्व के महत् की ओट में नक़ली मांगलिकता और निरीह शुभाशंसा का जो आडम्बर रचा जा रहा था और अब भी तुरत-सिद्धियों के लिए कभी-कभी रचा जाता है, उस पाखण्ड की क़लई भी नव-काव्य की खरी तथा निष्ठापूर्ण क्रिया-विधि पिघला कर बहा चुकी है। माध्यम और उपकरणों की संकीर्ण रूढ़ियाँ तोड़ कर उन्हें सहज अनुभूति के साथ सम्बद्ध किया गया है। संवेदना के सीमित और वर्गीकृत आधारों के स्थान पर सर्वथा अन्तरंग एवं आत्मानुभूत प्रतिक्रियाओं को अधिक मूल्यवान् मान कर कलात्मक वैभव के एक ऐसे असीमित और अनावलोकित क्षेत्र का उद्घाटन हो चुका है जिस का पूर्वकालीन कवियों को भान भी नहीं था। छोटी

से छोटी, निपट आत्मीय और निकटतम स्थिति के अनुभव-खण्डों को भी कविता के लिए अयोग्य नहीं समझा गया, बल्कि उन्हें ही सार्थक एवं मूल्यवान् माना गया; क्योंकि यही छोटी, मृदु (डेलिकेट) प्रतिक्रियाएँ आदमी को अधिक स्वाभाविक और परिपूर्ण रूप से व्यक्त करती हैं, असामान्य घटनाएँ अथवा अनुभव नहीं। पिछले कवियों की दृष्टि में 'असाधारण' और असाधारण के साथ जुड़ा चमत्कारी बिम्ब-मण्डल (ऑरा) ही मूल्यवान् होता था। और चूँकि असाधारण स्थितियाँ, घटनाएँ या व्यक्तित्व कम होते हैं अतः पिछले कवियों का 'वस्तु'-क्षेत्र सीमित होता था। वे जीवन और जगत् के क्रिया-कलापों एवं आदमी से सम्बन्धित घटना-क्रम को मोटे रूप से विभाजित प्राथमिक वर्गों (जनरलाइज़्ड केटेगरीज़) में देखने के आदी थे जिस के कारण उन की अनुभूति विशेषीकृत न हो कर सामान्यीकृत होती थी। विरह-मिलन, आशा-निराशा, सुख-दुःख, ऊँच-नीच, प्रेम-विराग, आत्मा-परमात्मा, प्रकृति-सांसारिकता, भौतिक-आध्यात्मिक, जनता और समाज, स्वदेशी-विदेशी आदि ऐसे ही सामान्य, अस्पष्ट वर्ग उन की चेतना के संचरण-माध्यम थे। प्रत्येक पक्ष के सूक्ष्म, विस्तारपूर्ण आयाम क्या हैं इस दृष्टि का वहाँ नितान्त अभाव था। नव-काव्य ने इस सामान्यीकृत चेतना और वर्गीकृत संवेदना को बिलकुल अस्वीकार कर दिया। सौन्दर्य की शास्त्र-सम्मत व्याख्याओं के स्थान पर सौन्दर्य-बोध की स्थिति-सापेक्ष्य अनुभूति के साथ जोड़ा गया और बहिर्मुखी रम्यता एवं कोमलता के बदले मार्मिकता, तन्मय स्पन्दनशीलता तथा आन्तरिक गुणवत्ता को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। इस प्रकार काव्यगत सौन्दर्य-तत्त्व को भाव-स्तर पर ग्रहण किया गया और उसे मात्र 'सुन्दरता' का पर्याय न समझ कर असुन्दर की मर्मानुभूति को भी सौन्दर्य-बोध के अन्तर्गत ही रखा गया। छन्द के शृंखलित आरोप को भंग कर दिया गया तथा छन्दमुक्त स्थिति में आन्तरिक लयान्विति को भावना की सहज, अकृत्रिम अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयुक्त माना गया। प्रकृतिपरक, गोचरी और 'भदेस' संवेदना का स्थान अधिक शालीन एवं आधुनिक नगरीय-बोध को दिया गया और अस्पष्ट, भावावेशी 'उद्गारों' के स्थान पर सुदृढ़, अच्युत (प्रेसाइज़) और अधिभिन्नित (हाइली डिफ़रेंशियेटेड) साक्षात्कारों को बौद्धिक तन्मयता के प्रगाढ़ासन पर प्रतिष्ठित किया गया। किसी दूसरे के द्वारा संकल्पित सिद्धान्त या उद्घाटित भाव-सत्य कवि के लिए तब तक प्रामा-

णिक नहीं हो सकता जब तक वह उस के द्वारा अनुभूत न हो, उस की आत्मा का सत्य न बन जाये, भले ही ऐसा सिद्धान्त चाहे कितना ही श्रेष्ठ हो और कितने ही बड़े महापुरुष द्वारा वह संस्थापित किया गया हो। आत्म-साक्ष्य की यह मूल्य-दृष्टि (ऐप्रोच) वैज्ञानिक युग की क्रियाविधि के अनुकूल है, जिस की आधार-शिला विश्लेषण-परीक्षण (इम्पीरिकल) पद्धति है और जिस की दार्शनिक भूमि है प्रश्न और जिज्ञासा। इस के विपरीत पूर्व-स्थापित तथा परम्परा-स्वीकृत साक्ष्यों का श्रद्धालु अनुसरण अथवा अन्धानुकरण मध्ययुगीन, सामन्ती और साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का द्योतक है। यह प्रतिगामी वृत्ति मानव-आत्मा की विरोधी तथा कवि-विवेक के प्रतिकूल है। स्वयं परीक्षित अनुभव की बौद्धिक ईमानदारी का साहित्यिक अधिकार कवि को है, होना चाहिए, यह कवि-कर्म के लिए अनिवार्य तत्त्व है। यदि लेखक किन्हीं साहित्येतर दबावों में आ कर स्वानुभवसाक्ष्य-विहीन सत्य को स्वीकार करता है तो वह 'कविता' नहीं एक ग़ैरईमानदार 'पद्य-वस्तु' की रचना ही करेगा। काव्य के लिए यही सब से बड़ा और अमिश्र निकष मैं ने माना है। और यह भी मेरी मान्यता है कि नया कवि उस आदमी को केन्द्र मान कर चला है जिस का भावना-मण्डित व्यक्तित्व शतियों के अन्यायों की धूल में लुप्त था, जिस के साधारण आशोच्छ्वासों और आत्मीय मर्म-स्पन्दनों का कोई मूल्य नहीं था; क्योंकि सामन्ती दृष्टि के लेखकों को गिने-चुने 'महत् व्यक्ति', 'महत् घटना' और 'महत् आत्मानन्द' की खोज थी, साधारण जन की छोटी प्रतिक्रियाओं एवं प्रतीति-व्यंजनाओं का उन के क्षेत्र में प्रवेश भी नहीं हो सकता था। इस 'मनुष्य' को उस की समस्त सामर्थ्य और विशेषताओं के (जिन्हें रूढ़िगत निकष 'दुर्बलता' कहते हैं) सन्दर्भ में ही पहचानने का यत्न अब किया गया है। आदमी का व्यक्तित्व और उस की मनुष्यता एक जटिल और जीवन्त सम्पूर्णता (ऑरगैनिक टोटैलिटी) है, वह इतनी सरल वस्तु नहीं कि मात्र 'मानवता' नामक शब्द-प्रतीक के प्रयोग से ही व्यंजित हो सके। इस मनुष्यता के अनन्त सूक्ष्म आयामों और छोटे-छोटे बारीक पक्षों को उद्घाटित कर नूतन कविता ने उसे अधिक संवेद्य बनाने की चेष्टा की है जिस से आदमी की सही और अधिक समृद्ध परिभाषा हो सके। मैं समझता हूँ कि नये कृतित्व में यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण जनतान्त्रिक तत्त्व है। सारांश में कविता की जिस चेतना का प्रादुर्भाव सन् १९३९-४० में हुआ था उस ने पिछली समस्त मान्यताओं को बदल डाला और

एक अभूतपूर्व बौद्धिक नवोन्मेष (इण्टेलेक्चुअल रेनासाँ) को जन्म दिया। पूरी की पूरी मर्यादा-परिधियाँ प्रतिस्थापित कर दी गयीं। इतनी बड़ी तात्त्विक क्रान्ति हिन्दी कविता में कभी नहीं आयी थी।

मुझे गर्व है कि मैं उस क्रान्ति-बिन्दु पर लेखनी लिये उपस्थित था और मुझ पर तथा मेरे कुछ थोड़े से सहधर्मियों पर आधुनिकता का वह नया उठता आलोक प्रथम बार पड़ा था। यह गर्व किसी अग्रज, संस्थापक या पुरोधा का दम्भ नहीं, उस ऐतिहासिक घटना के समय सौभाग्य से वहाँ 'होने' और 'पात्र' रूप में अपने भीतर उस दृश्य को घटते देखने का है। वास्तव में यह गर्व-भावना एक आन्तरिक आनन्द है, कलात्मक तृप्ति की अनिर्वच सिहरन—जैसी किसी भी रचनाकार को अपनी सार्थक कृति के पूर्ण होने पर होती है। वह गौरवान्वित होने का सार्वजनिक अहसास (ग्लोरिफ़िकेशन) भी नहीं है कि मेरे द्वारा कोई अद्वितीय ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न हुआ, वरन् एक नितान्त आत्मीय, विविक्त सुख की प्रतीति है। जिस धारा के सूत्रपात्र से मैं सम्बद्ध था वह क्रमशः व्यापक हो कर अनेक परवर्ती स्वरूपों में विकसित हुई, अभिनव भंगिमाओं को उस ने ग्रहण किया, जो प्रारम्भ में नहीं थीं। किन्तु इन परिवर्तनों से मेरे उस अन्तरंग सुख में कहीं कोई कमी नहीं आयी, जैसा अहसास कि अकसर प्रारम्भ-कर्ताओं में बाद के विकास को देख कर होता रहा है और कुछेक को अब भी है। उस की परिवर्तित समृद्धि से मेरी तृप्ति भी समृद्ध हुई है। इसी कारण उस का प्रत्येक विकास चरण मुझे अपनी आत्मीय उपलब्धि लगा है और उस की प्रत्येक हलचल में मेरे उत्तरोत्तर सहभाग की धड़कनें घुली-मिली रही हैं। आज पचीस वर्ष बाद उस आत्मीय मौन सुख को इस वक्तव्य-द्वारा सार्वजनिक करने की विवशता इस लिए हुई है क्योंकि कालान्तर में 'प्रयोगशील आधुनिकता' और नयी कविता के सम्बन्ध में अनेक भ्रम-गाथाएँ प्रचलित हो चुकी हैं, जिन का निराकरण काल-बिन्दु की इस दूरी पर आ कर अब सम्भव है। नव-काव्य ने अपना पथ बनाते हुए अनेक आलोचनाओं का उत्तर दिया, अनेक मौलिक प्रश्नों का विश्लेषण किया और बहुत सी शंकाओं का समाधान भी प्रस्तुत किया। किन्तु कितने ही अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का स्पष्टीकरण अभी शेष है। उन्हीं में इस बात का तथ्यपरक विश्लेषण भी है कि नव-काव्य की धारा कब और कैसे प्रारम्भ हुई, उस के पीछे क्या कारण थे; क्या वह

कोई संगठित आन्दोलन था जिस का सूत्रपात किसी कविविशेष ने किया था; अथवा यह कि उस का संस्थापक कौन था, क्या 'तार सप्तक' के सभी कवि या उन में से एक; क्या इस धारा का समारम्भ 'तार सप्तक' से हुआ अथवा उस के पहले ही से; प्रयोगशीलता का लक्ष्य क्या था; क्या अन्वेषणों के पीछे कोई सैद्धान्तिक आग्रह था; द्वितीय महायुद्ध तथा राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में कवियों की दृष्टि क्या थी, अर्थात् प्रयोगशील कवियों के सामाजिक-बोध की कौन सी दिशा थी, और यह कि प्रयोगशील कविता का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, अर्थात् नयी कविता क्या प्रयोगशीलता की ही विकसित रूप है अथवा दोनों अलग धाराएँ, विलग काव्य-निकाय हैं। इन प्रश्नों के साथ ही परम्परावादियों द्वारा भारतीयता और आधुनिकता के तारतम्य की शंका भी कितने ही रूपों में उठायी जा चुकी है, जैसे सामाजिक दायित्व की समस्या, परम्परा और प्रयोग की समस्या, मानवीय कल्याण की समस्या आदि। इन सभी बातों का तथ्यपरक, ईमानदार विश्लेषण आज आवश्यक है।

पहले मैं नवचेतना के प्रारम्भ-बिन्दु को ही लेता हूँ और उस के पार्श्वगत परिदर्श की कुछ छोटी घटनाओं को भी, जिन के आलोक में उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को स्पष्टतर समझा जा सकता है।

मैं छायावादी युग-चेतना से सम्पूर्ण विच्छेद का बिन्दु १९४० को मानता हूँ। इस का साक्ष्य उस काल के सभी नये कवियों की रचनाओं में है जिन के विस्तृत परीक्षण से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ। इस में उन सभी कवियों का कृतित्व भी सम्मिलित है जो बाद में 'तार सप्तक' में संकलित हुए और अन्य कवियों का भी। आधुनिकता का प्रथम बोध १९४० के कुछ वर्ष पहले से ही कवियों में उदित हो चुका था और १९३८-३९ की नयी कृतियों में उस की छाप पड़ना आरम्भ हो गयी थी। 'तार सप्तक' के प्रकाशन से पाँच वर्ष पूर्व ऐसी रचनाएँ हो रही थीं तथा सन् १९४० के आसपास के कृतित्व में वह आधुनिक स्वर सबल और स्पष्ट हो कर सामने आ गया था। इस नूतन मूल्यबोध का ग्रहण दो स्तरों पर हुआ था : नवीन ज्ञानविधियों (मार्क्स और फ्रॉयड) के अध्ययनगत प्रभाव से युगीन समस्याओं के प्रति आकस्मिक जागरूकता के स्तर पर, और दूसरे, संक्रमणकालीन ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में। पहले वर्ग के कवियों में आधुनिकता बोध का ग्रहण बुद्धि के क्षेत्र में, एक तात्कालिक

दर्शन की उपलब्धि या ज्ञानमय 'समाधान-दृष्टि' के रूप में हुआ था। दूसरे वर्ग के कुछ थोड़े से कवियों में संक्रान्ति की अनुभूति भावना के स्तर पर हुई थी। उन्हें इतिहास बोध का तीक्ष्ण साक्षात्कार व्यक्ति-भोग के क्षेत्र में हुआ था। उन में सांस्कृतिक दाय की समृद्ध चेतना भी थी और अर्वाचीन की आत्मानुभूति भी। इस के साथ ही आधुनिक बोध के अनुरूप अभिव्यक्ति की समस्या गहरे संकट के रूप में उन के सामने उपस्थित हुई थी।

एक तीसरा वर्ग भी इन के अतिरिक्त था, जिन्हें आधुनिकता की सैद्धान्तिक पहचान तो थी किन्तु छायाकालीन संस्कारों से उस समय आक्रान्त होने के कारण उन के कृतित्व में उक्त अवबोध का सफल प्रतिबिम्बन नहीं हो सका था। नये मूल्यों के प्रति वे प्रबुद्ध थे यद्यपि उस का प्रमाण रचनात्मक स्तर पर न्यून, व्याख्याता के रूप में अधिक था। उन में सिद्धान्त समीक्षण की क्षमता थी, सम्पादन की क्षमता थी, संगठन की प्रौढ़ता थी; किन्तु इस की तुलना में उन की रचनात्मक उपलब्धि उतनी आधुनिक नहीं थी क्योंकि उन में भाषा और उपकरण छायाकालीन प्रभावों से मुक्त नहीं हो पाये थे और नवानुभूति की आरोपजन्य अपरिपक्वता अधिक थी।

मैं पहले कह चुका हूँ कि आधुनिक संवेदना के अनुरूप नयी रचनाओं का आरम्भ ऐतिहासिक अनिवार्यता के कारण हुआ। युग-यथार्थ के समक्ष छायावादी रूपाकार और संवेदना-दृष्टि अनुपयुक्त तथा सर्वथा अपर्याप्त हो चुकी थी। परिवर्तित भाव-बोध के लिए न कोई उपकरण थे न उन की संकेत-दिशाओं का आभास ही था। भाषा, छन्द, उपमान, प्रतीक, भावभूमियाँ सभी अस्मिभूत हो चुके थे; यहाँ तक कि काव्यगत संगीत-तत्त्व और तुकान्त तक रूढ़ बन गये थे। नये रचनाकार अपनी सामर्थ्य और दृष्टि के अनुसार इस स्थिति से संघर्ष कर रहे थे। १९४१ तक क़ाफ़ी नया कृतित्व प्रकाश में आ चुका था। रामविलास, मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, केदारनाथ अग्रवाल की नयी रचनाएँ निकल रही थीं। १९४०-४१ में नरोत्तम नागर के सम्पादन में 'उच्छृंखल' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ था जो नये प्रकार की रचनाओं का आरम्भिक मंच था। मैं १९४० तक कितने ही प्रयोग कर अपना स्पष्ट मार्ग निर्धारित कर चुका था।

अप्रैल १९४१ में मेरा पहला संग्रह 'मंजीर' प्रकाशित हो चुका था और आधुनिक-बोध के अनुरूप मैं नगरीय संवेदना, इतिहास की सांस्कृतिक दृष्टि तथा भाषा, छन्द, बिम्ब और ध्वनि-विधान के नवीन रूपाकार की प्रस्तावना रचनाओं में कर चुका था। जुलाई १९४१ में मैं ने अँगरेज़ी में एक लम्बा लेख लिखा था 'द थ्योरी ऑव न्यू एक्स्पेरिमेण्टलिज़्म इन हिन्दी पोएट्री'। स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति के लिए नये मार्गों की खोज का यह क्रम सभी कवियों में अलग-अलग रूप से आया था। वह किसी विचार-विनिमय से तय किया हुआ संगठित आन्दोलन नहीं था, जिस का कोई एक कवि या विचारक संस्थापक होता। अन्वेषणों में किसी प्रकार की प्रतिबद्धता या कोई 'आग्रह' नहीं था, उन की परिधि में नयी सामाजिक दृष्टि, व्यक्तिगत आत्मानुभूति और सांस्कृतिक भाव-भूमि, तीनों प्रकार के तत्त्व सम्मिलित थे। 'तार सप्तक' के सम्पादक ने स्वयं ही भूमिका में यह स्वीकार किया था कि कवियों का कोई गुट नहीं है और किसी दल-विशेष का वह कृतित्व नहीं है। नयी प्रवृत्ति की उपलब्ध और परिस्वीकृत (एस्टेब्लिश्ड) सामग्री को 'तार सप्तक' में मात्र संकलित किया गया था, फलतः 'तार सप्तक' किसी एक कवि या उस के सम्पादक द्वारा प्रस्तावित 'प्रयोगवादिता' का समारम्भ नहीं था, क्योंकि नव-काव्य उस के कई वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था। बाद में प्रगतिशील आलोचकों ने, विशेष रूप से शिवदान सिंह चौहान ने, 'रूपवाद' का जो लांछन इस प्रवृत्ति पर लगाया था वह 'अज्ञेय' जी की स्थिति संकलनकर्ता के रूप में और 'तार सप्तक' के सात में से एक कवि के रूप में भिन्न न देखने के भ्रम से ही हुआ था। प्रकाशचन्द्र गुप्त की स्थापना के बावजूद कि 'तार सप्तक' में नूतन सांस्कृतिक स्वर प्रबल है, समस्त नयी प्रवृत्ति को 'प्रयोगवाद' का अनुचित नाम देने की त्रुटि कुछ प्रगतिवादी साम्प्रदायिक आलोचकों ने की थी, जिन्होंने संकलन-कर्म को 'नेतृत्व' भी समझ लिया था। उन्होंने शुद्ध रचनात्मक उपलब्धि में निष्पक्ष तुलनात्मक दृष्टि से यह नहीं देखा कि सम्पादक से अधिक परिपक्व और भिन्न प्रकार का कृतित्व 'तार सप्तक' में है, और यह भी कि अच्छे समीक्षक या व्याख्याता काव्य-धाराओं का नेतृत्व नहीं करते, रचनात्मक श्रेष्ठता को ही वह श्रेय प्राप्त हो सकता है। उन्होंने नयी चेतना के आन्तरिक स्वरूप और उस की ऐतिहासिक गति को समझने में भी भूल की थी। वास्तव में प्रयोगशीलता के साथ हिन्दी साहित्य में 'आधुनिकता' का समारम्भ हुआ था और

पिछले पचीस वर्ष के काव्य-विकास को इसी रूप में समझा जाना उचित है। उसे 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' के विलग निकायों में देखना असंगत है। आधुनिकता की प्रक्रिया का प्रथम उन्मेष १९४० से १९५२ तक मानना चाहिए और द्वितीय चरण १९५३ से अब तक। मेरी दृष्टि में प्रथम उन्मेष के प्रधान तत्त्व थे: परिवेश के प्रति गहरी जागरूकता, सामाजिक यथार्थ की चेतना, इतिहास का प्रथम बार तीव्र बोध, भाव-जगत् में सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं की पहचान, युद्धगत संक्रान्ति की मानवीय संवेदना, अन्तर्राष्ट्रीय उन्मुखता, नव-रोमान और परिवर्तित मूल्यों की टकराहट। दूसरे चरण में निकटतम सत्यों की संवेदना, संक्रान्ति की विडम्बनाओं का अहसास, व्यंग्य और विपर्यय, मूल्यगत विकृति, आत्मा-हीनता, जीवन की विसंगतियों (ऐब्सर्डिटी) की अभिव्यक्ति, वैज्ञानिकता का उदय, अमिश्र अनुभूतियों का आस्वाद प्रमुख स्वर हैं। मैं समझता हूँ कि दूसरे चरण को 'नयी कविता' के नाम से अभिहित करना ठीक नहीं है, उसे उपरोक्त प्रवृत्तियों के रूप में ही देखना अधिक संगत है जिस से उचित और अनुचित का, श्रेष्ठ और निम्न का सही मूल्यांकन हो सके।

आधुनिकता के उदय के साथ हिन्दी में पहली बार शुद्ध काव्य प्रतिष्ठित हुआ। छायावादी धारा तक हमारा अधिकांश काव्य संस्कृति के धार्मिक पक्ष से आच्छादित था। सन्त साहित्य, भक्ति साहित्य और रीतिकाव्य से ले कर १८वीं और १९वीं सदी के कृतित्व का मुख्य आलम्बन धर्म रहा या धार्मिक आद्य-प्रतीक रहे। यह प्रभाव आध्यात्मिक अभिवृत्ति (मूड) और भावुक दार्शनिकता के रूप में छायावाद पर भी रहा। इस धर्मनिष्ठ एवं मध्ययुगीन वृत्ति का प्रथम बार नूतन काव्यधारा ने उन्मूलन किया और धार्मिक तथा आधिभौतिक पर्पटियों को काट कर कविता को उस का वास्तविक धर्मातीत (सेक्युलर) स्वरूप प्रदान किया। इस के साथ ही कविता में अप्रतिबद्ध सामाजिकता की दृष्टि का उदय भी हुआ जो नूतन भारतीय विकास-पथ के समानान्तर ही है।

कविता के सम्बन्ध में मेरी मान्यताएँ उपरोक्त समस्त विश्लेषण में ही निहित हैं। वही मेरा वक्तव्य है। 'तार सप्तक' के पहले संस्करण में मैं पूरा वक्तव्य नहीं दे सका था क्योंकि मैं ने सामग्री देने में बहुत देर कर दी थी। अब की बार भी मैं ही सब से बड़ा अपराधी हूँ। उस समय

शीघ्रता में मैं ने केवल रूपाकार के नये प्रयोगों का ही विवरण दिया था जो अभिव्यक्ति के नये मार्गों की खोज में उस समय मेरे निकट अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य था। पिछले पचीस वर्षों में अपनी कविता में अन्य तत्त्वों के विकास के अतिरिक्त वैज्ञानिक-आस्था की नूतन प्रवृत्ति का सूत्रपात भी मैं ने अपने भविष्य-काव्य 'पृथ्वी कल्प' के साथ किया है जिस का आधार 'कॉस्मिक चेतना' है और जो भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि के साथ आधुनिक वैज्ञानिकता के सम्बद्ध होने का उदाहरण भी है। दूसरी कविताएँ जो इस संकलन में आ रही हैं उन में आधुनिकता के अन्य पक्ष हैं, जैसे 'देह की दूरियाँ' नामक रचना में काल-विमा (टाइम डायमेन्शन) की एक अस्पर्शित अनुभूति है। मैं आधुनिकता को केवल बाह्य प्रक्रिया नहीं मानता जैसा कि कुछ विचारक समझते हैं। आधुनिकता को मैं वैज्ञानिक प्रक्रिया से उद्भूत 'मूल्य'-दृष्टि मानता हूँ। इसी लिए आधुनिकता के बाह्य आरोप या उस की अनुकृति को उतना ही दोषपूर्ण समझता हूँ जितना स्वीकृत रूढ़ियों का अनुकरण। अन्ततः कवि-कर्म की सार्थकता इसी में है कि उस की रचना में कथ्य की मौलिकता, अनुभूति का ताप और अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता कितनी है—भले ही कविता नयी हो या पुरानी। और आधुनिकता इसी तथ्य पर निर्भर करती है कि कृतिकार में निरन्तर वर्तमान की सांस्कृतिक संवेदना कितनी है और मूल्यगत भविष्य के रूपाकारों की वह किस मात्रा में पूर्वाभिव्यंजना कर सका है।

—गिरिजाकुमार माथुर

[तार सप्तक के प्रथम संस्करण में कुछ तथ्य ग़लत प्रकाशित हुए थे—जैसे जन्म-तिथि और कविता संग्रह का नाम । सही और अतिरिक्त तथ्य निम्नांकित हैं ।]

जन्म-स्थान : अशोक नगर (मध्यप्रदेश)

जन्म-तिथि : भाद्रपद कृष्ण द्वादशी, शुक्रवार, सं० १९७६ : २२ अगस्त १९१९ ।

संस्कार-पीठिका : मालव की शतियों लम्बी ऐतिहासिक विभूति गन्ध; बुन्देलखण्ड का अदम्य विद्रोही-बोध; ग्वालियर के बीहड़ जंगलों का उद्दाम संगीत; लखनऊ की अभिजात नफ़ासत, मिठास और रंगीनी; दिल्ली की नगरीय संवेदना; तथा अमेरिका, युरॅप, रूस आदि की अति आधुनिकता और वैज्ञानिकता ।

प्रकाशन : मंजीर (१९४१) : कविताएँ; नाश और निर्माण (१९४६) : कविताएँ; धूप के धान (१९५४) : कविताएँ; जनमक़ैद (१९५७) : नाटक-संग्रह; शिलापंख चमकीले (१९६१) : कविताएँ; इन के अतिरिक्त, पृथ्वी कल्प के कुछ अंश ।

कार्य-क्षेत्र : १९४३, ऑल इण्डिया रेडियो में नियुक्ति; १९५० रेडियो से त्यागपत्र, संयुक्त राष्ट्र न्यूयॉर्क में सूचनाधिकारी के पद पर नियुक्ति, इंगलॅण्ड, युरॅप प्रवास; १९५३, आकाशवाणी लखनऊ में उपनिदेशक के रूप में पुनः नियुक्ति; १९५६, सांस्कृतिक शिष्ट-मण्डल में नेपाल यात्रा; १९५६, आकाशवाणी प्रतिनिधि-मण्डल में रूस तथा चेकोस्लोवाकिया की यात्रा; स्विटज़रलैण्ड प्रवास । तदनन्तर भोपाल, इलाहाबाद, दिल्ली, उड़ीसा—सम्प्रति स्टेशन डॉयरेक्टर, आकाशवाणी, जालन्धर ।

विशेष : १९६० में चेकोस्लोवाक सरकार द्वारा 'पृथ्वी कल्प' के एक अंश पर अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार द्वारा सम्मानित ।

नया कवि

जो अँधेरी रात में भभके अचानक
चमक से चकचौंध भर दे
मैं निरन्तर पास आता अग्नि-ध्वज हूँ।
        कड़कड़ायें रीढ़
        बूढ़ी रूढ़ियों की.
        झुर्रियाँ काँपें
        घुनी अनुभूतियों की
उस नयी आवाज़ की उठती गरज हूँ।

जब उलझ जायें
        मनस-गाँठें-घनेरी
        बोध की हो जायँ
        सब गलियाँ अँधेरी
        तर्क और विवेक पर
                बेसूझ जाले
        मढ़ चुके जब
        वैर-रत परिपाटियों की
                अस्मि ढेरी

जब न युग के पास रहे उपाय तीजा
तब अछूती मंज़िलों की ओर
                मैं उठता क़दम हूँ।

जब कि समझौता
जीने की निपट अनिवार्यता हो

परम अस्वीकार की
झुकने न वाली मैं क़सम हूँ।

हो चुके हैं
सभी प्रश्नों के सभी उत्तर पुराने
खोखले हैं
व्यक्ति और समूह वाले
आत्म-विज्ञापित ख़ज़ाने
पड़ गये झूठे समन्वय
रह न सका तटस्थ कोई
वे सुरक्षा की नक़ाबें
मार्ग मध्यम के बहाने
हूँ प्रताड़ित
क्योंकि प्रश्नों के नये उत्तर दिये हैं
है चरम अपराध
क्यों मैं लीक से इतना अलग हूँ।

सब छिपाते थे सचाई
जब तुरत की सिद्धियों से
असलियत को स्थगित करते
भाग जाते उत्तरों से
कला थी सुविधा-परस्ती
मूल्य केवल मस्लहत थे
मूर्ख थी निष्ठा
प्रतिष्ठा सुलभ थी आडम्बरों से
क्या करूँ
उपलब्धि की जो सहज तीखी आँच मुझ में
क्या करूँ
जो शम्भु-धनु टूटा तुम्हारा
तोड़ने को मैं विवश हूँ।

देह की दूरियाँ

निर्जन दूरियों के
ठोस दर्पणों में चलते हुए
सहसा मेरी एक देह
तीन देह हो गयी
उग कर एक बिन्दु पर
तीन अजनबी साथ चलने लगे
        अलग दिशाओं में
—और यह न ज्ञात हुआ
इन में कौन मेरा है !

बरकुल

चिलका झील

भीतर तमाशेबन्द बक्से का बायस्कोप
ढक्कनदार शीशों के मोखे सहसा खुल गये
धीरे-धीरे घूमते खिलौनों-से दृश्य सभी
छोटे होते गये
मैं जिस का दर्शक भी हूँ
और तमाशा भी
सिमट गयी अपार झील
दो छोटे पेड़ों की जगह बीच
चमक गया पानी
अपना अनुपात सभी टूट गया
नन्हें हो गये पेड़
नन्हों-सी सड़कों पर
छोटी बसें-मोटरें
धुआँ देती रेल
खिलौना-सा बन गयी
सुन्दर हठरी बना यह डाक बँगला
इने-गिने छींटों-से पहाड़ी मकान
रंग-रंग पुते हुए
मिट्टी के पुतले हम
एक साथ समा गये
नमूनों वाली झाँकी में—
झील ने घुँघरू बँधी चाबी से
तमाशा दिखा दिया—

'देखन् वाले देख
ये ताज का रौज़ा देख
ये फक्-फक् गाड़ी देख'
बोझल देह का
लिप्त मन का
झर गया बूर
चू कर गिरा फूल
तैर गया
पतली धारियोंदार लहरों में
दूर ले जाती
बिलमाती हवाओं में।

दो पाटों की दुनिया

चारों तरफ़ शोर है
चारों तरफ़ भरा-पूरा है
चारों तरफ़ मुर्दनी है
भीड़ें और कूड़ा है

हर सुविधा
एक ठप्पेदार अजनबी उगाती है
हर व्यस्तता
और अधिक अकेला कर जाती है

हम क्या करें—
भीड़ और अकेलेपन के क्रम से कैसे छुटें !

राहें सभी अन्धी हैं
ज़्यादातर लोग पागल हैं
अपने ही नशे में चूर
वहशी हैं या ग़ाफ़िल हैं
खलनायक हीरो हैं
विवेकशील कायर हैं
थोड़े-से ईमानदार
लगते सिर्फ़ मुजरिम हैं

हम क्या करें—
अविश्वास और आश्वासन के क्रम से कैसे-कैसे छुटें !

तर्क सभी अच्छे हैं
अन्त सभी निर्मम हैं
आस्था के वसनों में

कंकालों के अनुक्रम हैं
प्रौढ़ सभी कामुक हैं
जवान सब अराजक हैं
बुद्धजन अपाहिज हैं
मुँह बाये हुए भावक हैं

हम क्या करें—
तर्क और मूढ़ता के क्रम से कैसे छुटें!

हर आदमी में देवता है
और देवता बड़ा बोदा है
हर आदमी में जन्तु है
जो पिशाच से न थोड़ा है
हर देवतापन हम को
नपुंसक बनाता है
हर पैशाचिक पशुत्व
नये जानवर बढ़ाता है

हम क्या करें—
देवता और राक्षस के क्रम से कैसे छुटें!

असिद्ध की व्यथा

नदियाँ, दो-दो अपार
बहतीं विपरीत छोर
कब तक मैं दोनों धाराओं में साथ बहूँ
ओ मेरे सूत्रधार !

नौकाएँ दो भारी
अलग दिशाओं जातीं
कब तक मैं दोनों को एक साथ खेता रहूँ—
एक देह की पतवार—

दो-दो दरवाज़े हैं
अलग-अलग-क्षितिजों में
कब तक मैं दोनों की देहरियाँ लाँघा करूँ
ओ असिद्ध,
        एक साथ

छोटी-सी मेरी कथा
छोटा-सा घटना-क्रम
हवा के भँवर-सा पलव्यापी यह इतिहास
टूटे हुए असम्बद्ध टुकड़ों में बाँट दिया
तुम ने
ओ अदृश्य, विरोधाभास !

        अधभोगे
        अधडूबे
        रहे सभी कथा-खण्ड
दूरी से छू कर ही निकल गयीं घटनाएँ

भीतर बहुत सूखा रहा
हुआ नहीं सराबोर
देह भी न भीगी कभी इस प्रकार
कि साँसें न समा पायें

क्यों सारी दुनिया की
मनचीती बातें सभी
लगती रहीं मलीन
क्यों मन की दूर तहों में बैठा रहा, अडिग
ऊसर एक उदासीन
हँसने का नाटय किया
खुशियों का रूप धरा
कोरी आदत को सचाई माना मैं ने
मेरे अनबींधे, बुझे
आसक्तिहीन प्यार !
एक ओर तर्क है
एक ओर संस्कार
दोनों तूफ़ानों का
दुहरा है अन्धकार
किस को मैं छोड़ूँ
किस को स्वीकार करूँ
ओ मेरी आतमा में ठहरे हुए इन्तज़ार !

पृथ्वी-कल्प

(पद्धतियों के विराट् संघर्ष पर आधारित प्रतीक-नाट्य के अंश)

(स्याह अन्तरिक्ष में पृथ्वी के घूमते महागोल की विराट् छवि, जिस पर क्रमशः द्वीपों-महाद्वीपों के धब्बे दृष्टि-पथ में आते हैं। बीच में नीली खरिया से पुती हुई सिन्धु-रेखाओं की चमकीली झांइयां दिख पड़ती हैं।

विराट् गोल के आस-पास नीचे से ऊपर को ठण्डी भाप-जैसा आसमानी धुआँ शून्य में कोसों तक मण्डलाकार उठता दिखाई देता है। यह धूमावरण ऊपर-नीचे उच्छ्वसित हो रहा है। दूर से धुएँ की महाकार हिम-टोपियाँ चाँदनी की तरह चमकती हैं और हवा, नमी तथा फिसलते बादलों से प्रतिबिम्बित धूप के कारण पृथ्वी अत्यन्त चमकीला गेहुँआ आलोक देता हुआ ग्रह-पिण्ड लगती है।

अनन्त महाकाश में दमकते हुए असंख्य नक्षत्र-ग्रह, उपग्रह तथा सूर्यों को समेटे अनगिनती आकाशगंगाओं और नीहारिकाओं के चमकदार विराट् पहिये घूम रहे हैं। सृष्टि की इस निस्सीम परिधि की एक नामहीन कोर पर पृथ्वी अपने सीमित जीवन और जीवन की पद्धतियों को गोद में छिपाये हुए है।

पृष्ठभूमि में स्पेस का दिव्य संकेत करती हुई संगीत-रचना, जिस में हाई फ़्रीक्वेन्सी रेडियो-तरंगों की लक्षांशों में कम्पित झनकार सुनाई पड़ती है। तरंगों के तीव्र उतार-चढ़ाव और उन्नयन-विलयन के बीच तार-स्वरों में गूँजती किसी दूरागत दिक्-गीत की बारीक ध्वनियाँ आती हैं जैसे नीहारिकाओं के बाहरी अन्तरिक्ष से कोई पृथ्वी को परिचयात्मक रूप से पुकार रहा है।)

दिक्-गीत

पृथ्वी—पृथ्वी—पृथ्वी !
चमकीली, गेहुँई, सिन्दूरी, नीलाम्बरी

क्षौम-मुखी, घन-धवला, रेखांकित, साँवरो
पृथ्वी !
उदित ग्रह-नभों में होती वह हेमानी
छिटका कर अपनी गोरोचन भूमानी
पृथ्वी—पृथ्वी—पृथ्वी !

(दृश्य अव पृथ्वी के अधिक निकट उतर आता है। पृथ्वी बृहदाकार होती जाती है।....महाद्वीपों के चौड़े, डमरूनुमा, नोकीले और पूँछदार मानचित्र स्पष्ट दीखने लगे हैं, धूमावरण अधिक नीला होता जा रहा है और प्रतिबिम्व-भरे विशाल सिन्धु-फलक श्यामल। दिक्-गीत की गूँज बरावर उठ रही है....)

पृथ्वी !
फैला आयामहीन, नामहीन, दिक् कराल
काल को अनावृत अलकान्त का अभंग जाल
तेज सूक्ष्म, नेतिकाय, सृष्टि परिधि, निराकार
बहती है वह अदृश्य अपजल में निराधार
पृथ्वी !
कोटि अग्नि बुद्बुद से नील, पीत, रक्त सूर्य
शब्दहीन बजते उदयास्तों के काल-तूर्य
विश्व हैं चँदोवे, नित खुलता दिक् बहें भार
लोक-भूमियाँ अनन्त, जीवन के अलख द्वार
पृथ्वी—पृथ्वी—पृथ्वी !
सीमित अस्तित्व व्योम, सीमित हैं देश-काल,
सीमित सन्दर्भ सभी, व्यक्ति, राष्ट्र, तर्क-जाल,
शक्ति, स्वार्थ, सम्प्रदाय, प्रभुताओं के ललाट
सत्य नित्य जीवन है, सत्य चेतना विराट्
पृथ्वी—

(दिक्-गीत के विलयन के साथ ही आकाश से प्रकाश-धाराओं का एक आलोक-स्तम्भ उतरता है जिस के उजियाले की वृत्त-परिधि में एक

अति आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र चमक उठता है। गोलाकार बिम्ब में पृथ्वी-भर के देशवासी अपनी विभिन्न वेश-भूषाओं में एकत्र दिखाई पड़ते हैं। देशों के विभिन्न रंग-बिरंगे केतनों के बीच एक सब से ऊँचा नील रंग का केतन लहरा रहा है जिस पर कॉस्मिक-चेतना का द्युतिवन्त नक्षत्र-चिह्न त्रिवलय के बीच अंकित दिख पड़ता है। समवेत की गूँज विभिन्न हार्मोनाइज़्ड बोलियों में सुनाई पड़ती है, जो सिम्फ़नी की तरह उमड़ कर समस्त ज्योति-वृत्त में छाती जा रही है।)

पृथ्वी-गीत

(अन्तर्राष्ट्रीय समवेत)

जयति पृथ्वी
जयति धरणी
जयति जननी
जयति जीवन
आदि तुम हो अन्त हो तुम
बीज-सूत्र अनन्त हो तुम
विकसिता क्रमवन्त हो तुम
मृत्यु पर अनुदिन विजयिनो
स्वर्ग-जननी
जय चिरन्तन
कोटि ग्रह, उडु, सूर्य दीपित
चक्रमय नोहारिकाएँ
घूमतों तम अन्ध द्यौ में
सृष्टि की अगिनम छटाएं
लक्ष जलते तारकों में
एक तुम ऋत, शान्त, चेतन
नील, लोहित, हरित, श्यामल,
रितु-बरन तन, सिन्धु आँचल
दिवस चन्दन, रात काजल
सृजन सौरभ की कमलिनी

ज्योति-वदनी
अमर यौवन।

खिलीं तुम पर अरुणिमाएँ
मानव केसर कथाएँ
मृत्यु के फ़ंगस-वनों पर
उठीं हर युग में ऋचाएँ
ले प्रलय की भस्म रचतीं
नित नये संस्कृति तपोवन
भूमि के कर खण्ड लघुतम
लघु करों में बाल परचम
राष्ट्र-शिशु फिरते भयातुर
घृणा, हिंसा, युद्ध में भ्रम
मिटा टुकड़े एक करतीं
एक धरती, एक केतन
अग्नि-अणु कल्पान्त हरतीं
विगत में छवि नवल भरतीं
नव मनुज रवि उदय करतीं
शमन कर दुख, युद्ध रचतीं
तुम समाज नया सुहावन।

(विराट् नाद से मिली हुई गोंओं–गोंओं की निरन्तर भारी गूँज नेपथ्य से उठती है। मंच पर मत्स्य-कन्याओं की लम्बी नील धारियोंदार पोशाक पहने, समान देह-यष्टि वाली कुमारियों की पंक्तियाँ लहरों की तरह उठती आती हैं। उन के हाथ और पैर मीन-पक्षों की तरह झालरदार हैं और प्रलम्बित ढलकते वस्त्र से ढके हैं। सदियों की ये तरंगें नृत्य करती हुई निकलती जाती हैं।)

आयी है दुनिया अब सूक्ष्म के किनारों तक,
उठने लगी है मन्द आज यवनिका विराट्,
दिखने लगे हैं कुछ झिलझिल अनन्त लोक,
होने लगा है दिव्य का अबूझ आभास।

मन पर से परदों का कुहर हटा जाता है—
अब तक थी भूमिका, इतिहास अब आता है।

(परदा जब उठता है तो मंच पर एक खुली हुई बृहदाकार पुस्तक दिखाई देती है जो समस्त मंच को ढके हुए है। पुस्तक के दोनों खुले छोर नीचे से ऊपर आकाश में प्रवेश करते जान पड़ते हैं। पुस्तक के बीच में असाधारण रूप से लम्बा एक वृद्ध यती खड़ा दिखाई देता है।)

इतिहास

खोलो, यह ग्रन्थ है
चिरन्तन समय का,
आदि पृष्ठ धुँधले हैं,
अक्षर मिटे हैं कुछ,
उड़ गया है मुख्य पृष्ठ,
भूमिका न मिलती है,
पहले अध्यायों के
खो गये हैं पृष्ठ कई,
हो गये हैं लुप्त कई,
धूल-ढँके गुप्त कई,
बीच-बीच में के
कुछ पृष्ठ फटे दिखते हैं
जिन पर है कटा-चिह्न
निर्दय तलवार का,
कट्टरता, क्रूरता, अन्याय के प्रहार का,
ग्रन्थ कहीं छेद-भरा
चाट गया जिसे मन्द
दीमक अतीत का,
कितने अध्यायों की
पंक्तियाँ घिसी ही रहीं,
फैल कर स्याह-लाल
स्याही जमी है कहीं
इनसानी खून की,

मुरझा कर जम गयी
कहानी प्रसून की।

(लम्बी साँस भर कर हाँफने लगता है।)

लेकिन न देखो तुम
धूल-भरो छापों को
युद्ध रक्तपातों को,
इनसानी पापों को,
स्याह-सुर्ख़ धब्बों में
चलती आलोक-किरन
जोवन की ज्वाल-भरी
जलती मशाल है,
विजय-कथा पृथ्वी की
सृजन चिरन्तन की,
नैसर्गिक नियमों में बाधक तत्त्व-मोचन की,
मानव इकाई के व्यापकतम मंगल की।

(गम्भीर पृष्ठ-संगीत उठता है)

सत्ता नहीं चल सकी बहुत देर
मृत्यु के उपासक अन्याय अविवेक की,
विजय हुई है सदा न्याय की,
असुरों पर देवों की,
दिति पर अदिति की,
अन्धकार दैत्यों पर
तेजस आदित्य की,
राक्षस पर रुद्र की,
वृत्र पर इन्द्र की,
रावण पर राम की,
बर्बरता-कंस पर
संस्कृति के श्याम की;
और आज
जब ये शक्ति-बल पर

आधारित समाज तन्त्र,
राज्यों की पद्धतियाँ
सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक नियन्ता बन बैठी हैं—
हस्तगत किये सारे
ज्ञान-विज्ञान के चरम साधन,
कोटि-कोटि जन के
भाग्य-सूत्र क्रूर मुट्ठो में,
भिन्न मतादर्शों के घोर हथियार लिये,
सैन्य शक्ति, गुप्त पुलिस,
अर्थ तन्त्र आयोजन,
जीने सब साधन—
निरंकुश नोति नियमन,
यूथवादी अनुशासन,
विकट कील-काँटे लैस
समूह-संचारों के
तन्त्र-यन्त्र अपरिमेय,
जकड़े अर्ध-सत्यों के पंजों में जन-मानस,
वैचारिक कोड़ों से मार कर चलाने को,
लोक-मत बदलने को—
दल के अनुरूप उसे गढ़ने को
कीलों से एक जगह जड़ने को तत्पर हैं।
तब भी यह निश्चित है
सामाजिक प्रेतों पर,
घृणा, युद्ध, संशय, अश्रद्धा के दैत्यों पर,
मानव व्यक्तित्व की
अन्तिम विजय होगी।

(मधुर संगीत)

धरती की सुन्दरतम
सृष्टि इनसान है ;
संशय, भय, घृणा,
युद्ध, लिप्सा शैतान है।

सामूहिक मृत्यु, त्रास,
कुण्ठा, दमन, अवसाद,
दुनिया पर मतवादों के जघन्य अनाचार,
मिथ्या आदर्शों के प्रेतों विकृतियों पर,
शव साधक पन्थों पद्धतियों पर,
जड़वादी पंजों में जकड़ी संस्कृतियों पर,
जीत इनसान की
पृथ्वी की गाथा
इतिहास की कहानी है।

गीतिका

देखो, गाथाकार, क्षितिज पर
सूर्य-ग्रहण पड़ रहा मनुज पर;
अर्ध असुर मुख खोल रहे हैं—
युद्ध-राक्षस डोल रहे हैं ···

सैनिक हस्तक्षेप हो रहे,
मनुजों में ये प्रेत बो रहे,
यन्त्र दैत्य चिंघाड़ रहे हैं,
नभ की छाती फाड़ रहे हैं।
अणु का वैश्वानर जलता है;
धुआँ नागफन बन उठता है,
नभ में तनी शक्ति की भुज है
और दूसरी ओर मनुज है।

सिक्के के दूसरे छोर पर
एक भयानक नर-बलि ले कर
जन-भविष्य की क़ीमत पर
इतिहासों का हो रहा फ़ैसला—
नया फ़ैसला मनुज भाग्य का।
शुद्ध हो रही है समाज की मूर्ति पुरानी
गरम रक्त का स्नान करा कर
संस्कारों का परिष्कार है किया जा रहा।
मन-दोहन की घोर क्रिया से
इनसानों को गीले कपड़े-सा निचोड़ कर,
स्तम्भमुखी शक्तियाँ हाथ ले
कर राष्ट्रीयकरण विचारों के सेक्टर का

काम सोचने का भी है ले लिया राज्य ने।
पुरस्कार में हर वर्षों के लिए चुने कुछ नारे दे कर
अर्ध-सत्य से सत्य मार कर,
हर नृशंसता को जनता की इच्छा कह कर,
हर निर्णय को इतिहासों की पूर्व नियति, निश्चय बतला कर,
क्रूर नियन्त्रण के परदों में
मार हथौड़ों की चोटों से
ठोंकी जाती है समष्टि की मूर्ति भयावह।
कोटि जनों के रक्त, मांस, मज्जा, स्वरूप को
गली धातु का सिर्फ़ मान कर लुगदा कच्चा।

लाल भट्टियों के इस नये कारखाने में
बैठा है मतवाद सम्प्रदायों-सा कट्टर
दल की बृहद् निहाई पर
मानव आत्मा को लिये टीन-सा
ठोंक रहा है, पीट रहा है
एक सरीखा-जस्ते का-सा ब्लॉक बनाने;
दरवाज़े पर बलि चढ़ने को पंक्ति बँधी है
साँचे में ढलते जाने को मनुज खड़ा है।

छाया मत छूना

छाया मत छूना
मन, होगा दुख दूना।
जीवन में हैं सुरंग सुधियाँ सुहावनी
छवियों की चित्र-गन्ध फैली मनभावनी :
तन-सुगन्ध शेष रही, बीत गयी यामिनी,
कुन्तल के फूलों की याद बनी चाँदनी।
भूली-सी एक छुअन बनता हर जीवित क्षण—
छाया मत छूना।
मन, होगा दुख दूना।
यश है या न वैभव है, मान है न सरमाया;
जितना ही दौड़ा तू उतना ही भरमाया।
प्रभुता का शरण-बिम्ब केवल मृगतृष्णा है,
हर चन्द्रिका में छिपी एक रात कृष्णा है।
जो है यथार्थ कठिन उस का तू कर पूजन—
छाया मत छूना।
मन, होगा दुख दूना।
दुविधा-हत साहस है, दिखता है पन्थ नहीं,
देह सुखी हो पर मन के दुख का अन्त नहीं।
दुख है न चाँद खिला शरद-रात आने पर,
क्या हुआ जो खिला फूल रस-वसन्त जाने पर?
जो न मिला भूल भुले कल तू भविष्य वरण,
छाया मत छूना।
मन, होगा दुख दूना।

निर्वासन

महताबियाँ जल-जल उठती हैं
आस-पास चारों ओर :
अनहोनी चकाचौंध
यहाँ, यहाँ, यहाँ—
औचक फुलझड़ियाँ।
चकरी-सा नाच रहा मन,
या वातावरण ?
ओ निर्वासन, कहाँ हूँ मैं, कहाँ हूँ ?

• •

६

रामविलास शर्मा

[शर्मा, रामविलास : शिक्षा लखनऊ विश्वविद्यालय से पायी; वहीं अँगरेज़ी साहित्य में डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की और फिर कुछ वर्ष अध्यापन भी किया। अब राजपूत कॉलेज आगरा में अध्यापक हैं।

रामविलासजी पहले आलोचक हैं, फिर कवि। कविता उन्होंने कम लिखी है, इस का कारण वे यह बताते हैं कि उस में मेहनत पड़ती है, पर असल में कारण यही है कि उन्हें आलोचना का चसका है, और उस का अवसर पा कर वे लेखनी या मसी की प्रतीक्षा अनिवार्य नहीं समझते। मौखिक आलोचना और कटाक्षपूर्ण पदावली उन की विशेषता है। हिन्दी को छोड़ कर जब वे ठेठ मातृभाषा (बैसवाड़ी) को अपनाते हैं तब उन का यह अस्त्र और भी पैना हो जाता है। इसी लिए हिन्दी के पहलवान कवि शिरोमणि निरालाजी उन्हें बहुत मानते हैं। स्वस्थ देह के साथ स्वस्थ मन वाला ग्रीक आदर्श वे पूरा करते हैं या नहीं यह तो मनस्तत्त्ववेत्ता बतायें, किन्तु उन का कण्ठ और उन की वाणी ख़ूब स्वस्थ और समर्थ हैं।

रामविलासजी की गद्य और पद्य रचनाएँ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती हैं; दो आलोचना ग्रन्थ ('प्रेमचन्द' और 'भारतेन्दु-युग') प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरा ('निराला') छप रहा है।

१९४३ से—

कविता संग्रह 'रूप तरंग' प्रकाशित हो चुका है। आगरे के बलवन्तराय कॉलेज में अँगरेज़ी के प्राध्यापक हैं; कई वर्ष वहीं से 'समालोचक' का सम्पादन करते रहे पर अब पत्र बन्द हो गया है।

'अप्रकाशित कविता एक भी नहीं है।']

वक्तव्य

कविता लिखने की ओर मेरी रुचि बराबर रही है लेकिन लिखा है मैं ने कम। जिसे साहित्य-क्षेत्र में उतरना कहते हैं, वह मैं ने कभी नहीं किया; साहित्य से एक पाठक का सम्पर्क रहने से कभी-कभी गद्य में लिखा करता था। ज्यों-ज्यों वह सम्पर्क बढ़ता गया, त्यों-त्यों गद्य लिखना बढ़ता गया। पद्य लिखना कम भी होता गया। जो व्यक्ति एक विकासोन्मुख साहित्य की आवश्यकताओं को चीन्ह कर उन के अनुरूप गद्य लिखे, वह कवि हो भी कैसे सकता है? मेरे बहुत से लेख साहित्य के अशाश्वत सत्य, वाद-विवादों से पूर्ण हैं। कविता में शाश्वत सत्यों की मैं ने खोज की हो, यह भी दिल पर हाथ रख कर नहीं कह सकता।

पुस्तकों से सम्पर्क होने के कारण अनेक कविताएँ ऐसी हैं जिन की प्रेरणा पुस्तकों से मिली है। 'दारा शिकोह' ऐसी ही कविता है। ऐतिहासिक विषयों पर कविता लिखना मुझे अच्छा लगता है। इस का छन्द रुबाई है और पंक्ति का निर्माण घनाक्षरी की पंक्ति को बीच से तोड़ कर किया गया है। इस सोलह अक्षर की पंक्ति में मैं ने सॉनेट और ब्लैंक वर्स (अतुकान्त छन्द) लिखा है। और कई कविताएँ इस पंक्ति को तोड़ कर वार्णिक मुक्त छन्द में लिखी गयी हैं। एक दूसरे ढंग का मुक्त छन्द मात्रिक है। दोनों ही प्रकार के मुक्त छन्द के आविष्कारक 'निराला' हैं।

कुछ कविताओं में गाँव के दृश्यों का वर्णन है। बचपन गाँव के खेतों में बीता है और वह सम्पर्क कभी नहीं छूटा। इस समय भी खिड़की के बाहर खेत दिखाई दे रहा है जिस में कटी हुई ज्वार के ठूँठ ही रह गये हैं। सुनहली धूप में कबूतर दाने चुग रहे हैं और थोड़ी दूर पर नहर का

पुल पार कर के किसान सिर पर बाज़ार के सामान का गट्ठर रखे घर लौट रहे हैं। मैं साधारणतः छह घण्टे काम करूँ तो खेतों के बीच में रह कर दस घण्टे कर सकता हूँ। इन खेतों को प्यार करना किसी ने नहीं सिखाया। ये मेरे गाँव के खेत भी नहीं हैं; गाँव यहाँ से सैकड़ों मील दूर है। फिर भी, हिन्दुस्तान के जिस गाँव पर भी साँझ की सुनहली धूप पड़ती है, वह अपने गाँव जैसा ही लगता है। १९वीं सदी के रोमांटिक कवियों में मुझे फ़ांस के कवि इसी लिए ज़्यादा पसन्द हैं कि उन्होंने इन खेतों को किसानों की तरह प्यार किया है। हिन्दी के नये कवियों में मुझे केदारनाथ अग्रवाल भी इसी लिए ज़्यादा पसन्द हैं कि उन की रचनाओं में 'भदेसपन' काफ़ी है।

मेरी शिक्षा लखनऊ विश्वविद्यालय में हुई और वहाँ मैं शिक्षक भी रहा हूँ। लेकिन कुछ दोस्तों का खयाल दुरुस्त मालूम होता है कि विश्व-विद्यालय की शिक्षा मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकी। स्वयं शिक्षक होते हुए मैं अनुभव करता हूँ कि विश्वविद्यालयों और कॉलेजों की शिक्षा बनाती कम है, बिगाड़ती ज़्यादा है। यह ऐसी शिक्षा है जो विद्यार्थियों और जन-साधारण के बीच में आ कर खड़ी हो जाती है। तुलसी के "भनिति भदेश" से उसे दूर कर देती है। इस वातावरण के विरुद्ध देश की अन्य शक्तियाँ हैं जो युवकों को अपनी ओर खींचती हैं और निर्जीव प्रोफ़ेसरों के बावजूद विद्यार्थियों को पढ़ने और मनन करने के लिए यथेष्ट सामग्री मिल जाती है। ऐसा न हो तो इन विद्यालयों की ओर आँख उठा कर देखने की भी आवश्यकता न रहे।

मेरे आलोचनात्मक निबन्ध पढ़ कर कुछ मित्रों ने—जिन्होंने मुझे कभी देखा न था—मेरे कल्पना-चित्र बनाये थे। इन चित्रों में, हो न हो, वे मेरी आयु ४०-४५ के लगभग आँकते थे और चेहरे पर भारी मूँछें और गम्भीरता की छाप भी उन्होंने कल्पित कर ली थी। शायद लेख लिखते समय मैं कुछ अपनेपन से बाहर चला जाता हूँ। इस लिए मित्र सही भी हो सकते हैं। पता नहीं कविता पढ़ कर अपरिचित मित्र मेरे बारे में किस तरह की कल्पना करेंगे। मैं उन्हें एक बात का आश्वासन देना चाहता हूँ: जैसे वे मेरी कविताओं के बारे में 'सीरियस' नहीं हैं, वैसे मैं भी नहीं हूँ। मैं ने कई बार सोचा, प्रेम-सम्बन्धी कविताएँ भी लिखनी चाहिए, लेकिन शायद एक-आध बार से अधिक इस ओर रुझान

नहीं हुआ। और जिस के हृदय में प्रेम की नदी न बहे, वह कवि ही क्या ?

एक बात का और विश्वास दिलाना चाहता हूँ; वात्स्यायनजी ने कविताओं के लिए परेशान कर डाला। नहीं तो कविता लिखने में बड़ी मेहनत पड़ती है और उन की नक़ल करने में और भी ज़्यादा। आशा है, यह प्रकाशन बस अन्तिम होगा।

—रामविलास शर्मा

कार्य-क्षेत्र

धरती के पुत्र की,
होगी कौन जाति, कौन मत, कहो कौन धर्म ?
धूलि-भरा धरती का पुत्र है,
जोतता है बोता जो किसान इस धरती को,
मिट्टी का पुतला है,
मिट्टी के चिर संसर्ग में !
धरती के पुत्र के,
कितने ही मत और धर्म और जातियाँ हैं।
एकरस मटीलेपन में,
छिपी है विभिन्नता, विचित्रता, विषमता विश्व की !
रूढ़ियों की, नियमों की, अस्पष्ट विचारों की,
सदियों के पुरातन मृत संस्कारों की,
चिह्नित हैं प्रेतरूप छायाएँ मटीले मुँह पर।
कुसंस्कृत भूमि ये किसान की,
धरती के पुत्र की,
जोतनी है गहरी दो-चार बार, दस बार,
बोना महातिक्त वहाँ बीज असन्तोष का,
काटनी है नये साल फागुन में फ़सल जो क्रान्ति की।

कवि

१

वह सहज विलम्बित मन्थर गति जिस को निहार
गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार;
काले लहराते बाल देव-सा तन विशाल,
आर्यों का गर्वोन्नत, प्रशस्त, अविनीत भाल;
झंकृत करती थी जिस की वाणी में अमोल,
शारदा सरस वीणा के सार्थक सधे बोल;–
कुछ काम न आया वह कवित्व आर्यत्व आज,
सन्ध्या की वेला शिथिल हो गये सभी साज।
पथ में अब वन्य जन्तुओं का रोदन कराल।
एकाकीपन के साथी हैं केवल श्रृगाल।

२

अब कहाँ यक्ष-से कवि-कुल-गुरु का ठाट-बाट ?
अर्पित है कवि-चरणों में किस का राजपाट ?
उन स्वर्ण-खचित प्रासादों में किस का विलास ?
कवि के अन्तःपुर में किस श्यामा का निवास ?
पैरों में कठिन बिवाइँ कटती नहीं डगर;
आँखों में आँसू, दुख से खुलते नहीं अधर !
खो गया कहीं सूने नभ में वह अरुण राग,
धूसर सन्ध्या में कवि उदास है वीतराग !
अब वन्य जन्तुओं का पथ में रोदन कराल।
एकाकीपन के साथी हैं केवल श्रृगाल।

३

अज्ञान-निशा का बीत चुका है अन्धकार;
खिल उठा गगन में अरुण-ज्योति का सहस्रार।
किरणों ने नभ में जीवन के लिख दिये लेख;
गाते हैं वन के विहग ज्योति का गीत एक।
फिर क्यों पथ में यह सन्ध्या की छाया उदास ?
क्यों सहस्रार का मुरझाया नभ में प्रकाश ?
किरणों ने पहनाया था जिस को मुकुट एक,
माथे पर वहीं लिखे हैं दुख के अमिट लेख।

अब वन्य जन्तुओं का पथ में रोदन कराल,
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल।

४

इन वन्य जन्तुओं से मनुष्य फिर भी महान् :
तू क्षुद्र मरण से जीवन को ही श्रेष्ठ मान।
'रावण-महिमा-श्यामा-विभावरी-अन्धकार'।—
छँट गया तीक्ष्ण बाणों से वह भी तम अपार।
अब बीती बहुत रही थोड़ी, मत हो निराश,
छाया-सी सन्ध्या का यद्यपि धूसर प्रकाश।
उस वज्र-हृदय से फिर भी तू साहस बटोर,
कर दिये विफल जिस ने प्रहार विधि के कठोर।

क्या कर लेगा मानव का यह रोदन कराल ?
रोने दे यदि रोते हैं वन-पथ में शृगाल।

५

कट गयी डगर जीवन की, थोड़ी रही और;
इस वन में कुश-कण्टक, सोने को नहीं ठौर।
क्षत चरण न विचलित हों, मुँह से निकले न आह;
थक कर मत गिर पड़ना ओ साथी बीच राह।

यह कहे न कोई—जीर्ण हो गया जब शरीर,
विचलित हो गया हृदय भी पीड़ा से अधीर।
पथ में उन अमिट रक्त-चिह्नों की रहे शान,
मर मिटने को आते हैं पीछे नौजवान।

इस वन में जहाँ अशुभ ये रोते हैं शृगाल,
निर्मित होगी जन-सत्ता की नगरी विशाल।

चाँदनो

चांँदी की झोनी चादर-सी
फैली है वन पर चाँदनो।
चाँदी का झूठा पानी है
यह माह-पूस की चाँदनी।
खेतों पर ओस-भरा कुहरा,
कुहरे पर भीगी चाँदनी;
आँखों में बादल-से आँसू,
हँसती है उन पर चाँदनी।
दुख की दुनिया पर बुनती है
माया के सपने चाँदनी।
मीठी मुसकान बिछाती है
भीगी पलकों पर चाँदनी।
लोहे की हथकड़ियों-सा दुख,
सपनों-सी झूठी चाँदनी;
लोहे-से दुख को काटे क्या
सपनों-सी मीठी चाँदनो।
यह चांद चुरा कर लाया है
सूरज से अपनी चाँदनी।
सूरज निकला, अब चाँद कहाँ ?
छिप गयी लाज से चाँदनी :
दुख और कर्म का यह जीवन,
वह चार दिनों की चाँदनी।
यह कर्म-सूर्य की ज्योति अमर,
वह अन्धकार की चाँदनी।

रामविलास शर्मा

प्रत्यूष के पूर्व

दूर छिपा है भोर अभी आकाश में,
पश्चिम में धीरे-धीरे पर डूबता
ठिठुरन से छोटा हो पीला चन्द्रमा,
धुँधली है तुषार से भीगी चाँदनी
सीत्-सीत् करती बयार है बह रही,
बरस रहा खेतों पर हिम-हेमन्त है,
हरी-भरी बालों के भारी बोझ से,
मूर्च्छित हो धरती पर झुकी मोराइयाँ।
बरगद के नीचे ही महफ़िल है जमी,
घुँघरू की छुम-छुम पर तबला ठनकता,
पेशवाज़ से सजी पतुरियाँ नाचतीं,
मीठी-मीठी सारंगी भी बज रही।
उड़ती गहरी गन्ध हवा में इत्र की,
उजले धुले वस्त्र पहन बैठे हुए,
दारू का चल रहा दौर पर दौर है।
कहते हैं, स्वामी जो थे इस भूमि के,
हत्यारों से वे अकाल मारे गये।

सीत्-सीत् करती बयार है बह रही,
पौ फटने में अभी पहर भर देर है।
बरगद से कुछ दूरी पर जो दीखता
ऊँचा-सा टीला, उस पर एकत्र हो,
ऊँचा मुँह कर देख डूबता चन्द्रमा
हुआ-हुआ करते सियार हैं बोलते।

कतकी

पिछला पहर रात का, पर आकाश में
छिटकी है अब भी चौदस की चाँदनी;
बिना वृक्ष-झाड़ो के, घेरे क्षितिज को,
ऊसर ही ऊसर कोसों फैला हुआ।
चला गया है उसे चोरता बीच से
गहरे कई खुढ़ों का गलियारा बड़ा,
कतकी का ढर्रा, जिस पर हैं जा रहीं
घुँघरू की ध्वनि करती इस सुनसान में
पाँति बाँध कर धीरे-धीरे लाढ़ियाँ।
उड़ते पीछे उजले बादल धूल के।
तने हुए तम्बू भीतर पैरा बिछा,
सुखी बाल-बच्चे बैठे हैं ऊँघते,
गरम रज़ाई में निश्चिन्त किसान भी
बैठा बैलों की पगही ढीली किये।
घुँघरू की मीठी ध्वनि करते जा रहे
फटी-पुरानी, झूलें ओढ़े बैल वे,
पहचानते लीक हैं, पहले भी गये।
स्वप्न देखते धीरे-धीरे जा रहे,
सकरघटी कर पार, जहाँ लहरा रही
सर्-सर् करती गंगा की धारा, वहाँ
रंग-बिरंगा कोलाहल करता बड़ा,
बालू पर मेला है एक जुड़ा हुआ।

शारदीया

सोना ही सोना छाया आकाश में,
पश्चिम में सोने का सूरज डूबता,
पका रंग कंचन जैसे ताया हुआ,
भरे ज्वार के भुट्टे पक कर झुक गये ।
'गला-गला' कर हांक रही गुफना लिये,
दाने चुगती हुई गलरियों को खड़ी,
सोने से भी निखरा जिस का रंग है,
भरी जवानी जिस की पक कर झुक गयी ।

सिलहार

पूरी हुई कटाई, अब खलिहान में
पीपल के नीचे है राशि सुची हुई,
दानों भरी पकी बालों वाले बड़े
पूलों पर पूलों के लगे अरम्भ हैं।
बिगही-बरहे दीख पड़े अब खेत में,
छोटे-छोटे ठूँठ-ठूँठ ही रह गये।
अभी दुपहरी में पर, जब आकाश को
चाँदी का-सा पात किये, है तप रहा,
छोटा-सा सूरज सिर पर बैसाख का,
काले धब्बों-से बिखरे वे खेत में
फटे अँगोछों में, बच्चे भी साथ ले,
ध्यान लगा सीला चमार हैं बीनते,
खेत कटाई की मज़दूरी, इन्हीं ने
जोता बोया सींचा भी था खेत को।

दिवा-स्वप्न

वर्षा से धुल कर निखर उठा नीला-नीला
फिर हरे-हरे खेतों पर छाया आसमान,
उजली कुँआर की धूप अकेली पड़ी हार में,
लौटे इस वेला सब अपने घर किसान ।

पागुर करती छाहीं में, कुछ गम्भीर अध-खुली आँखों से,
बैठी गायें करतीं विचार,
सूनेपन का मधु-गीत आम की डाली में,
गातीं जातीं मिल कर ममाखियाँ लगातार ।

भरे रहे मकाई ज्वार बाजरे के दाने,
चुगती चिड़ियाँ पेड़ों पर पर बैठीं झूल-झूल,
पीले कनेर के फूल सुनहले फूले पीले,
लाल-लाल झाड़ी कनेर की, लाल फूल ।

बिकसी फूटें, पकती कचेलियाँ बेलों में,
ढो ले आती ठण्ढी बयार सोंधी सुगन्ध,
अन्तस्तल में फिर पैठ खोलती मनोभवन के,
वर्ष-वर्ष से सुधि के भूले द्वार बन्द ।

तब वर्षों के उस पार दीखता, खेल रहा वह,
खेल-खेल में मिटा चुका है जिसे काल,
बीते वर्षों का मैं, जिस को है ढँके हुए
गाढ़े वर्षों की छायाओं का तन्तु-जाल ।

देखती उसे तब अपलक आँखें, रह जातीं
देखती उसे ही आँखें धर एकान्त ध्यान,
भूल अतीत का स्वप्न जागता, मिट जाता
संकुचित एक पल-सा हो फीका वर्तमान ।

देखतीं उसे ही, भर आतीं आँखें, फिर पलकें
झँप जातीं, खो जाती छवि वह निराकार,
मैं रह जाता फिर प्रतिदिन-सा ही
गरजता अनागत का अगाध फिर अन्धकार।

दाराशिकोह

दिल्ली में उमड़ आया क्षुब्ध जन-पारावार,
राहुग्रस्त चन्द्र को भी देख कर उठा ज्वार;
दीन मदहीन एक हाथी पर राज्यहीन,
शाहंशाह भारत का दाराशुको' था सवार।

छत्रहीन शीश पर आग-सा दुसह घाम;
पीठ पर मौत-सा औरंगजेब का ग़ुलाम;
चारों ओर त्रस्त जन-पारावार निस्सहाय,—
रुद्ध जनकण्ठ में था अस्फुट-सा रामनाम।

तीर लिये, तेग़ लिये, हाथ में लिये कमान,
सैनिक थे, शासक थे—हिन्दू और मुसलमान,
लोहे के-से पींजरे में फ़ारस की बुलबुल-सा
दारा वहाँ बैठा था अनाथ शिशु के समान!

मस्तक मुकुटहीन, हाथ मणिबन्धहीन,
कण्ठ में पराजय का हार एक द्युतिहीन;
पाँव में ज़ंजीर और बन्दी पिता शाहजहाँ,
सम्राट् औरंगज़ेब—दारा ऐसा भाग्यहीन!

टूटा कुफ़्र दारा का, अजेय रहा मुसलमान।
विजय के साथ एक बाँदी मिली रूपवान्।
भारत के, बाबर के तख़्त पर, भाइयों के
रक्त से लिखी गयी औरंगज़ेब की क़ुरान।

सोने का-सा देश वह गोलकुण्डा, जहाँ शाह;
शाहों का—कुबेर-सा—था शासक कुतुबशाह;
सोना वहाँ देवता था, क़ाफ़िरों का कुतुब का :
आया वहाँ ग़ाज़ी, किया गोलकुण्डा को तबाह।

धर्मरत दारा, प्रिय पिता, पुत्र शीलवान्
भारत के साधु और सूफ़ियों में ज्ञानवान्
सेवक ही बना रहा—रोगी पिता शाहजहाँ;
दक्षिण से जब चढ़ा आता था मुसलमान।

समूगढ़! भारत-सौभाग्य का कराल काल—
राजा रामसिंह और हाड़ापति छत्रसाल
खेत रहे, जहाँ एक बाग़ी ख़लीउल्ला ने
दारा का नमक देशद्रोह से किया हलाल।

'धन्य हिन्दू! स्वर्ग में भी पाये पिता जलदान!
प्यासा रहे मुसलमान शाहंशाह बेज़ुबान!'
आगरे में बोला बन्दी प्यासा पिता शाहजहाँ,
'धन्य हो सपूत! तुम्हीं पैदा हुए मुसलमान!'

आगरा, लाहौर और सखर से सेहबान;
दारा, और नादिरा ने छान डाले बियाबान;
कहा अन्त समय प्रिय पति से ये' नादिरा ने
'प्यारे! मुझे मिले पाक वही ख़ाक हिन्दुस्तान!'

दारा जैसे मित्र से भी घात और दुर्व्यवहार,
मालिक के जीवन को लानत हज़ार बार।
क़ैद हुआ दारा, उसे ले चला बहादुर ख़ाँ,
सोती रही नादिरा, न टूटा ख़्वाब एक बार।

और अब दिल्ली में अनाथ दारा, राज्यहीन,
बैठने को धूलि-भरा हाथी मिला दीन-हीन;
चारों ओर सैनिक हैं तेग़ लिये, तीर लिये,
बीच में है त्रस्त बलि-पशु दारा भाग्यहीन!

रोते थे ग़रीब, दारा बैठा था झुकाये माथ,
बोला यों भिखारी एक—'आज हो गये अनाथ!
दाता! दोनों हाथ से लुटाते थे भिखारियों को,
आज ही क्या एक बार चला जाऊँ ख़ाली हाथ?'

बैठा रहा दारा वहीं नीचे को झुकाये माथ,
ऊपर की ओर बिना देखे ही उठाया हाथ,

आखिरी निशानी एक चादर थी नादिरा की,
फेंक दी अनाथ ने, भिखारी को किया सनाथ।

व्यर्थ है पुकार और व्यर्थ है यह कुहराम,
खुदा को पुकारना है व्यर्थ लेना राम-नाम;
घूमती है लाश अभी नगर में चारों ओर
किन्तु इतिहास में है दारा का अमर नाम।

शान्त हुई दिल्ली और शान्त जन-पारावार;
दक्षिण में किन्तु उठा झंझावात दुर्निवार;
धूलि से दिशाएँ ढकीं, धूलि-भरा आसमान;
दिल्ली पर छा गया प्रलय का-सा अन्धकार।

काँप उठा सिंहासन, काँप उठा शाहंशाह,
फूट पड़ा ज्वालामुखी जहाँ उसे मिली राह!
काँप उठी भाइयों के रक्त में रँगी कटार
जागी प्रतिहिंसा और शासन को नयी चाह!

उत्तर से उठी घटा, काला हुआ आसमान;
दासी-पुत्र बना राजद्रोही पिता के समान,
टूटे चूर शासन के; दारा का रुधिर लिये
प्रेत-सा जगाता रहा 'ग़ाज़ी' दिल्ली का मसान।

गुरुदेव की पुण्यभूमि

यह शस्य श्यामला वसुन्धरा है, जिसे देख कर
कवि ने मन में स्वर्ग रचा था सुन्दर।
यह पुण्यभूमि है, जिसे देख कर
आन्दोलित हो उठता था कवि का भावाकुल अन्तर।
वे भरे धान के खेत यहीं थे, जिन्हें देख कर
साँझ-सवेरे फूटे थे कवि के स्वर।

इस बंग-भूमि से ही जग को सन्देश दिया था
कवि ने : 'अजर अमर है मानव-जीवन !'
इस बंग-भूमि से कवि ने घोषित किया—
'क्षुद्र है मानव-द्वारा, मानव का उत्पीड़न !'
बर्बर फ़ासिस्तवाद को यही चुनौती दी;
साम्राज्यवाद से युद्ध किया आजीवन !

इस शस्य-श्यामला वसुन्धरा पर
क्रूर प्रेत-सी घिर आयी किस बिभीषिका की छाया,
उस अजर अमर जीवन पर यह विनाश की छाया,
किस की दारुण सर्वग्रासिनी माया;
इस पुण्यभूमि में तीस हज़ार युवतियों ने
क्यों वेश्यालय में जा कर आश्रय पाया ?

उन भरे धान के खेतों में दिन-रात भूख,
बस भूख महामारी का आकुल क्रन्दन !
हड्डी-हड्डी में सुलग रही है आग भूख की;
'सुलग रहा है भीतर-भीतर रक्तहीन मानव तन;

पट गया अध-जली लाशों से कविगुरु का प्रिय
यह हरा-भरा नन्दन वन !

भाई भाई से जुदा चिता पर लड़ते हैं
भाई-भाई, दो भीरु श्वान-से कायर !
लाखों की रक़में काट रहे हैं, काट रहे हैं
गले करोड़ों के, छिप-छिप कर कायर !
सिर पर सरकार मौत-सी बेदम बैठी है,
चुपचाप मौत-सी पस्त निकम्मी कायर !

कायर, वह जो नेता बनता था, चला गया,
मिल गया लुटेरों की सेना में, कायर।
कायर, जो भी मुँह देख रहा हो,
चीनी जनता के बर्बर हत्यारों का, वह कायर।
लाखों को मरते देख रहा है
धरे हाथ पर हाथ नपुंसक नौजवान, वह कायर।

वह पुण्यभूमि है मानवता के कविगुरु की,
प्राचीन तपोवन-सी ही सुन्दर, पावन !
बलिदान त्याग की भूमि—
अभी निःस्वार्थ युवक हैं, जीवित है अब भी
सामाजिक जीवन।

हड्डी-हड्डी है चूर, जला सब खून;
अडिग है फिर भी सूखे तन में इस्पाती मन !
दानव ने आज चुनौती दी है नवयुवकों को
'आओ, यह पहाड़-सा भार उठाओ !
दुर्भिक्ष महामारी से, दुष्ट लुटेरों से,
आओ यह अपना प्यारा देश बचाओ।'
ऐ नौजवान भारत के !
गरम लहू को आज चुनौती है; सब मिल कर
भार उठाओ !

दिन-रात यही हैरानी, भूली भूख-प्यास,—
वीरान न हो यह प्यारा शान्ति-निकेतन !
यह हरा-भरा बंगाल !
न यों ही उजड़ जाय इस भूख महामारी से
शान्ति-निकेतन !
उस नीच नगूची को न मिले यह रवि ठाकुर का,
प्राणों से भी प्यारा शान्ति-निकेतन !
बंगाल, कसौटी देशभक्ति की,
आज यहीं पर केन्द्रित है सारे भारत का जीवन।
बंगाल देश का सिंहद्वार !
प्रहरी है केवल मृत्यु, और जनता करती है अनशन !
बंगाल चिता पर जलता है !
क्या बचा रहेगा देश ? बचेगा किस स्वार्थी का जीवन ?

जल्लाद की मौत

(एक सोवियत चित्र पर)

जलता था जब रूसी घर;
जलते थे खलिहान खेत जब
मिलें और टूटे छप्पर;
बढ़ता था जब टिड्डी-दल,
नाज़ी हत्यारों का दल,—
'फिर आयेंगे'—
        कहता था तब लाल सिपाही;
"ओ हत्यारो। फिर आयेंगे!"—
        मन मसोस कर कहता था यह लाल सिपाही,
बढ़ता था जब टिड्डी-दल,
जलता था जब रूसी घर !
रूसी बच्चों के हत्यारो,
ओ किसान-मज़दूर औरतों को बेइज़्ज़त करने वालो,
लाल सिपाही फिर आता है,
वही क़ौल पूरा करने को।
सोचा था जिस क्रूर हृदय ने
लूट और व्यभिचार और हत्या का हम
        त्योहार मनायें,
उसी हृदय में आज लाल संगीन चुभेगी,
निकलेगी तेरे उस क्रूर हृदय से बाहर
निर्दयता, बर्बरता, तेरा हत्यारापन,
        लाल रक्त की धारा बन कर।
देख, लौट आया है तेरा काल
        रूस का लाल सिपाही !

ओ जल्लाद ! कहाँ है अब तेरा साथी टिड्डी-दल ?
तू होगा बर्बाद
जहाँ कल छोड़ गया था तू जलते मज़दूरों के घर।
जलता था जो कल रूसी घर,
वहीं बनेगा एक नया घर,
पहले से भी मनहर-सुन्दर :
लेकिन आज,
गिरेगा तुझ पर बन कर गाज,
रूसी इनक़लाब का घन,
रूसी मज़दूरों का घन,
स्तालिन का फ़ौलादी घन।
जलता था कल रूसी घर,
आज वहाँ पर जलता है फ़ासिस्त और
नाज़ी बर्बर !

एक नया घर वहीं बनेगा
पहले से भी बड़ा और उस से भी सुन्दर !

सत्यं शिवं सुन्दरम्

हाथी घोड़ा पालकी,
जै कन्हैया लाल की।
हिन्दू हिन्दुस्तान की
जै हिटलर भगवान् की।
जिन्ना, पाकिस्तान की।
टोजो और जापान की
बोलो वन्दे मातरम्!
सत्यं शिवं सुन्दरम्।

हिन्दुस्तान हमारा है,
प्राणों से भी प्यारा है।
इस की रक्षा कौन करे?
सेंत-मेंत में कौन मरे?
पाकिस्तान हमारा है,
प्राणों से भी प्यारा है।
इस की रक्षा कौन करे?
बैठो हाथ पै हाथ धरे!
गिरने दो जापानी बम!
सत्यं शिवं सुन्दरम्।

शुद्ध कला के पारखी,
कहते हैं उस पार की।
इस दुनिया को कौन कहे?
भव-सागर में कौन बहे?
जै हो राधारानी की

या जिस ने मनमानी की
राधा या अनुराधा से,
छिप कर अपने दादा से !
कैसी बढ़िया चाल की,
बलिहारी गोपाल की !
उस के भक्तों में से हम ।
सत्यं शिवं सुन्दरम् ।

जो हो सदा बहार की,
शायर या ऐयार को
तुरबत में भी आहट से,
उठ कर बैठ गया झट से !
गुल और बुलबुल की औलाद,
करता रहता है फ़रियाद ।
धीमी-धीमी सुर में नाद,
इनक़लाब ज़िन्दाबाद !
ग़म से भर आता है दिल !
दिल वह भी शायर का दिल
जिस में शुद्ध भरा है ग़म !
सत्यं शिवं सुन्दरम् ।

हिन्दी हम चालीस करोड़,
क्यों बैठे हैं साहस छोड़ ?
देश हमारा हिन्दुस्तान,
लाखों ही मज़दूर-किसान ।
इस धरती पर बसने वाले
उस के हित पर मिटने वाले
क्या भागेंगे ताबड़तोड़,
हिन्दी हम चालीस करोड़ ?
यह आज़ादी का मैदान,
जीतेंगे मज़दूर-किसान ।

एक यही है राह सुगम,
सत्यं शिवं सुन्दरम्।

आज बढ़ेंगे साथ क़दम
निश्चय विजयी होंगे हम
गिरने दो जापानी बम।
बोलो वन्दे मातरम्!

हड्डियों का ताप

कंकाल,
हड्डियों के रक्तहीन मांसहीन कंकाल;
मांसल बलिष्ठ नहीं भुजाएँ, रक्ताभा नहीं है कपोलों पर,
परतन्त्र देश के युवक हैं !
कहाँ है जीवन ? कहाँ है चिरन्तन आत्मा ?
हड्डियों का संघर्षण जीवन है,
हड्डियों में बसा हुआ ताप ही,
आत्मा है ।
युग के ये नर-कंकाल,
हड्डियों के ताप से अशान्त हैं !
गालों की सूखी हुई हड्डियों में,
धँसी हुई आँखों की पुतलियों में,
बसी है भावना विद्रोह की ।
बढ़ते हैं नर-कंकाल, नवयुवक,
खड़ी जहाँ सेना परतन्त्रता की, मृत्यु की,
भूख की, दुःसह अपमान, अत्याचार की ।
काली-काली भीम-मूर्ति छायाएँ,
छायाएँ,
विजय नहीं पायेंगी,
जीवित हैं हम नर-कंकाल ।
जलती है ज्वाला एक हड्डियों के ढांचों में ।
फैला कर लम्बी सूखी उँगलियों को,
छिन्न-भिन्न कर देंगे काली छायाओं को,
—निर्मोह युद्ध में,—
नर-मांसाहारी इन मृत्यु की बीभत्स छायाओं में ।

रामविलास शर्मा

मुक्ति देंगे जीवन को मृत्यु के पाश से;
जन्म होगा हड्डियों के ढाँचों से
रक्ताभ मांसल शरीर का,
हड्डियों में बसे हुए ताप से,
चिरन्तन आत्मा का,
जन्म होगा नर-कंकालों से,
सबल स्वतन्त्र नवयुवकों की सेना का।

किसान कवि और उस का पुत्र

नीले रँग में डूब गया सारा नभ-मण्डल,
पूर्व दिशा में उठे घने दल के दल बादल
लहराती पुरवाई के झोंकों पर आये,
धूल-भरे लू से झुलसे खेतों पर छाये।
आमों की सुगन्ध से महक उठी पुरवाई,
पिउ-पिउ के मृदु रव से गूँज उठी अमराई।
जग के दग्ध हृदय पर गह-गह बादर बरसे,
डह-डह अंकुर फूटे वसुधा के अन्तर से।
बह न जाय जीवन अपार सीमा से बाहर,
मेड़ बाँधता है किसान खेतों में जा कर।
यह असाढ़ का पहला दिन, ये काले बादल,
लू से झुलसे हाड़ों को करते हैं शीतल।
टपक रहा है टूटा घर, खटिया टूटी है,
एक यहाँ मनचाही सुख की लूट नहीं है।
भरे तराई-ताल, नदी-नाले उतराये,
आता है सैलाब, गाँव जिस में बह जाये।
दीवारों को फिर मिट्टी से छोप-छाप कर,
बचा सकेगा कौन भला ये टूटे खँडहर ?
हरे-हरे तरु-पात, जमे अंकुर ऊसर में,
उमड़ रहा है जल अपार जीवन सरि-सर में।
फिर भी उल्कापात एक उस तरु पर केवल,
वन के सब वृक्षों में था जिस का मीठा फल।
छार-छार हो गये पात सब वज्रपात से,
वह पंछी उड़ गया; हाय, उड़ गया हाथ से !
यह वर्षा की ऋतु, ढेलों में जीवन फूटा,

जिन में वज्र हड्डियों का वह ढाँचा टूटा।
वर्षा की ऋतु—डोली फिर वन में पुरवाई,
पुरवाई के साथ मृत्यु भी उड़ती आयी।
बरस रहा है जब वन में खेतों में जीवन,
किस ने किया इन्हीं खेतों में प्राण-विसर्जन ?
किस की मिट्टी पर यह खेतों की हरियाली ?
किस के लाल लहू की फागुन में यह लाली ?
ओ मेरे साथी ! मेरे जाने-पहचाने !
वज्र हड्डियों से बन गये अन्न के दाने !
साथी अपनी छोड़ गया था एक निशानी,
साथी से ज़्यादा है उस की करुण कहानी।
वह सूने वन में आशा का फूल खिला था,
सूने वन को उस तरु का वरदान मिला था !
प्रतिभा का वह फूल, किसी अज्ञात दिशा में,
धूमकेतु-सा खिला और छिप गया निशा में।
चन्द्रहीन है अमा निशा का जल-सा तम है।
दुख का पारावार अकूल अथाह अगम है।
अनजानी है राह, न साथी आज पास है।
एक नियति का पीछे कर्कश अट्टहास है।
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है।
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है।
रेत और पानी से बन जाते हैं पत्थर,
हृदय बना है आग और आँसू से मिल कर।
फिर भी सूनी धूप देख कर तरु-पातों पर।
कहीं बिलम जाता है मन बिसरी बातों पर,
कहीं हृदय के सौ इस्पाती बन्धन टूटे;
कहीं व्यथा के स्रोत हृदय में फिर से फूटे।
दुख का पारावार उमड़ आया आँखों में,
यह जीवन की हार नहीं छिपती आँखों में।
मेरी अन्ध निराशा का यह गीत नहीं है।
मन बहलाने को मोहक संगीत नहीं है।
जीवन की इस मरण-व्यथा को सहना होगा,

अन्तर में यह व्यथा छिपाये रहना होगा।
काल-रात्रि में चार प्रहर अविराम जागरण !
यही व्यथा का पुरस्कार है, अति साधारण !
बँध न सकेगा लघु सीमाओं में लघु जीवन;
लघु जीवन से अमर बनेगा बहु-जन-जीवन !
अडिग यही विश्वास, क्षुद्र है जीवन चंचल;
अनजानी है राह; यही साहस है संबल।
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है।
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है।

समुद्र के किनारे

सागर लम्बी साँसें भरता है,
सिर धुनती है लहर-लहर;
बूँदी-बादर में एक वही स्वर
गूँज रहा है हहर-हहर।
सागर की छाती से उठ कर
यह टकराती है कहाँ लहर ?
जिस ठौर हृदय में जलती है
वह याद तुम्हारी आठ पहर।
बस एक नखत ही चमक रहा है
अब भी काली लहरों पर,
जिस को न अभी तक ढँक पाये हैं
सावन के बूँदी-बादर।
यह जीवन यदि अपना होता
यदि वश होता अपने ऊपर,
यह दुखी हृदय भी भर आता
भूले दुख से जैसे सागर।
वह डूब गया चंचल तारा
जो चमक रहा था लहरों पर,
सावन के बूँदी-बादर में
अब एक वही स्वर हहर-हहर।
सागर की छाती से उठ कर
यह टकराती है कहाँ लहर ?
जिस ठौर नखत वह बुझ कर भी
जलता रहता है आठ पहर।

सागर लम्बी साँसें भरता है
सिर धुनती है लहर-लहर,
पर आगे बढ़ता है मानव
अपनेपन से ऊपर उठ कर।

आगे सागर का जल अथाह
ऊपर हैं नीर-भरे बादर,
बढ़ता है फिर भी जन-समूह
जल को इस जड़ता के ऊपर।

बैठा है कौन किनारे पर,
यह गरज रहा है जन-सागर,
पीछे हट कर सिर धुन कर भी
आगे बढ़ती है लहर-लहर।

दुख के इस हहर-हहर में भी
ऊँचा उठता है जय का स्वर;
सीमा के बन्धन तोड़ रही है
सागर की प्रत्येक लहर।

विश्व-शान्ति

शिशिर की सांझ यह,
छायी हरे खेतों पर, ठण्डी ओस लिये धूलि-भरे
गलियारों पर,
लौट आये थके-माँदे घर को सभी किसान।
नगर की गलियों में
काला-काला धूआँ छाया दबा हुआ ओस से।
लहू की बूँदों-से
जलते हैं बिजली के बल्व सूनी सड़कों पर,—लाल-लाल।

शिशिर की रात यह निश्चिन्त,
निद्रित हों जन मानो दीर्घ कालरात्रि में।

कुहरे से मुँदे हुए,
ईश के सुवर्ण सिंहासन के पार्श्व से,
उड़ चले पुष्पक-विमान पृथिवी की ओर!

करते हैं पुष्प-वृष्टि,
नष्ट करते हैं नर-सृष्टि, कर अग्नि-वृष्टि
दुर्दम नृशंस आततायियों के ध्वंसकारी वायुयान!

हरे-हरे खेतों के,
काले-काले लोहे के कल-कारखानों के,
नीचे कहीं दबा था भूकम्प एक चुपचाप!
तोड़ कर स्तब्धता सुदीर्घ कालरात्रि की,
फैल गया चीत्कार प्राणियों का वन में, नदी के तीर!

शिशिर की ओस-भरी ठण्डी रात,
लाल हुआ लपटों से आसमान!
अग्नि विद्रोह की,

तोड़ कर क्षमाशील पृथिवी के वक्ष को,
सहस्रों शिखाओं में, उठी गगन में सुवर्ण सिंहासन ओर।
मज्जा और मांस से सने हुए मसान में
प्रज्वलित चिता की लपटों में,
अविनश्वर लिखी है शान्ति संसार की।

कलियुग

सतयुग, त्रेता, फिर द्वापर औ' कलियुग,
अन्तिम हमारा युग,
निन्दित पुराणों में, शास्त्रों में, काव्यों में,
अवांछित आदि युग से यह अधम युग;
सतयुग, त्रेता और द्वापर के कृमि-कीट
विकसित हुए जब विषैले युग में,
महामान्य पूर्वजों, महर्षियों, सम्राटों की,
वासना की बूँदें वे,
बढ़ कर बनीं आज गम्भीर जल-राशि,—
विषाक्त कर्दममय जल-राशि !
युग-युग निन्दित अधम यह कलियुग,
यही है हमारा युग;
चेतना की किरणें सिमट कर एक साथ,
छिन्न करने को जड़ जल-स्तर, सक्रिय सचेष्ट हैं,
नष्ट करने को सतयुग ही के पुरातन कृमि-कीट ।
विशाल सक्रियता,
यही है हमारा युग ।
विषाक्त जलधि के हृदय में,
फूट कर धीरे-धीरे उठ रहा मुक्ति का कमल वह,
खिलेगा जो एक दिन काले जल-तल पर,
नव अरुणाभा में,—नव सतयुग के प्रकाश में ।

परिणति

दुख की प्रत्येक अनुभूति में,
बोध करता हूँ कहीं आत्मा है
मूल से सिहरती प्रगाढ़ अनुभूति में।
आत्मा की ज्योति में,
शून्य है न जाने कहाँ छिपा हुआ
गहन से गहनतर
दुख की सतत अनुभूति में
बोध करता हूँ एक महत्तर आत्मा है,
निबिडता शून्य की विकास पाती उसी भाँति,—
सक्रिय अनन्त जल-राशि से
कटते हों कूल ज्यों समुद्र के।
एक दिन गहनतम इसी अनुभूति में
महत्तम आत्मा की ज्योति यह
विकसित पायेगी चिर परिणति महाशून्य में।

तूफ़ान के समय

क्षितिज से उठ कर,
विषैले बादलों में सनसनाता आता है तूफ़ान;
झुलसती कोटरों में चिड़ियाँ, टहनियाँ पेड़ों की !
झुका लूँगा शीश तब,
उड़ाये झुलसायेगा जब तूफ़ान यह रूखे-सूखे बालों को।
शीश पर सह लूँगा
वेग सब प्रकृति के विकृत तूफ़ान का।
कड़कती उल्का आकाश में
विचलित करती है मानव में अन्तर्हित ज्योति को।
बढ़ूँगा आगे और
शान्त होगा, जब विष-वातावरण;
अथवा यों शीश झुका,
खड़ा हुआ अचल, एकान्त स्थल पर,
देखूँगा भस्मसात् होती है कैसे वह अन्तर्ज्योति,
पाता है जय कैसे,
मानव पर यह विकृत प्रकृति का तूफ़ान।

पुनश्च

'तार सप्तक' में संकलित मेरी इन कविताओं का घनिष्ठ सम्बन्ध छायावादी कविता—और उस से भी अधिक छायावादी कवियों—से है। इन में से बहुतों को 'निराला' जी ने पढ़ा या सुना था; उन की टीका-टिप्पणी से मैं ने लाभ उठाने का प्रयत्न किया। बहुतों को श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'रूपाभ' में प्रकाशित किया था। ये दोनों महान् कवि प्रगतिशील विचारधारा—और उस से अधिक प्रगतिशील भावधारा—से सहानुभूति रखते थे और नये कवियों को प्रोत्साहन और प्रेरणा देते थे। वे स्वयं छायावादी कविता के रहस्यवादी पक्ष को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। 'निराला' के जीवन में यथार्थवाद का अन्तर्विरोध साकार प्रकट हुआ। वही 'कवि' की विषयवस्तु है। उस में रहस्यवाद का खण्डन करते हुए छायावाद के मानवतावादी मूल्यों को अपनाने का प्रयास भी है।

मेरा बचपन अवध के गाँवों में बीता। उन संस्कारों के बल पर मैं ने वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य और सामाजिक जीवन पर कुछ कविताएँ लिखीं। 'निराला' जी के रेखाचित्रों, स्वर्गीय बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' की अवधी कविताओं और (खड़ी बोली में लिखी हुई) कहानियों, 'सुमन', 'गिरजाकुमार माथुर और केदारनाथ अग्रवाल को अनेक कविताओं, पन्त की 'ग्राम्या' वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों, इधर के 'आंचलिक' कथा-साहित्य में यह ग्राम-जीवन-सम्बन्धी प्रवृत्ति पल्लवित और पुष्पित होती रही है। उस परम्परा की एक कड़ी मेरी अवध-सम्बन्धी कविताएँ भी हैं।

मनुष्य—और जिस हद तक कवि मनुष्य है, वह भी—सामाजिक

जीवन के सन्दर्भ में ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। मुझे यह विश्वास था कि महायुद्ध की बिभीषिकाओं को पार कर के जन-साधारण का जीवन नये स्तर पर विकसित होगा। यह आस्था पिछले बीस वर्षों की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से दृढ़ हुई है। कविता का विकास जनता के इस अभियान से सम्बद्ध है। जो इस अभियान के विरोधी हैं, वे कुण्ठा और घुटन के कारागार में स्वयं को वन्दी बना लेते हैं और रूप के नाम पर अनगढ़ प्रतीक-योजना के अलावा कुछ नहीं दे पाते।

मूर्तिविधान वही सार्थक है जो भावों से अनुप्राणित हो, जिस में सहज इन्द्रिय-बोध का निखार हो। दूर की कौड़ी लाना काव्य-रचना नहीं, बौनों का बौद्धिक व्यायाम है। शब्द-संगीत और छन्द-सौन्दर्य (भले ही वह मुक्त छन्द का सौन्दर्य हो) भावोत्कर्ष में सहायक होते हैं। सम्पूर्ण कविता के कलात्मक प्रभाव के लिए भावों-विचारों की परस्पर सम्बद्धता, मूर्तियों या प्रतीकों का आन्तरिक गठन और कृति के सभी अवयवों में तारतम्य स्थापित करने वाला शिल्प नितान्त आवश्यक है। इस दृष्टि से 'निराला' सदा मेरे पथदर्शक रहे हैं।

'तार सप्तक' में मेरी कविताओं के संकलन से काव्य के कुछ इतिहास-कारों को वर्गीकरण सम्बन्धी कठिनाइयों का अनुभव हुआ है; इस के लिए मैं उन के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति विज्ञापित करता हूँ।

—रामविलास शर्मा

केरल : एक दृश्य

एक घनी हरियाली का-सा सागर
उमड़ पड़ा है केरल की धरती पर।
तरु-पातों में खोये-से हैं निर्झर,
सुन पड़ता है केवल उन का मृदु स्वर।
इस सागर पर उतरा वर्षा का दल,
पर्वत-शिखरों पर अँधियारे बादल।
हरियाली से घनी नीलिमा मिल कर
सिन्धु राग-सी छायी है केरल पर।
घनी धूम की गुंजें शिखर-शिखर पर
झूम रहा हो मानो उन्मद कुंजर।
ऐसे ही होंगे दुर्गम कदलीवन,
कविता में पढ़ते हैं जिन का वर्णन
सीमा तज कर एक हो गये सरि-सर,
बाँहें फैलाये आता है सागर।

कल्पवृक्ष हैं यहीं, यहीं नन्दन-वन,
नहीं किन्तु सुर-सुन्दरियों का नर्तन।
घनी जटाएँ कूट-कूट कर बट कर,
पेट पालते हैं ज्यों-त्यों कर श्रमकर।
यही वृक्ष है निर्धन जनता का धन,
अर्ध नग्न फिर भी नर-नारी के तन।
जिन हाथों ने काट-काट कर पर्वत
यहाँ बनाया है दुर्गम वन में पथ
कब तक नन्दन में श्रमफल से वंचित
औरों की सम्पदा करेंगे संचित ?

अर्ध-मातृ-सत्ताक व्यवस्था तज कर
नयी शक्ति से जागे हैं नारी-नर !
लहराता है हरियाली का सागर,
फिर सावन छाया है इस धरती पर ।

• •

७

'अज्ञेय'

['अज्ञेय' : वास्तविक नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन; जन्म मार्च १९११ में एक शिविर में हुआ। "तभी से आवारगी की छाप पड़ी हुई है" और धाम पूछने पर प्रायः उत्तर मिलता है, "रेलगाड़ी में"। बचपन लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता; शिक्षा मद्रास और लाहौर में पायी। किन्तु साहित्य के साथ-साथ बमबाज़ी और विषैले रसायनों का अध्ययन भी करते रहे। "बाद में इन विषयों का कुछ अभ्यास भी किया"। फिर कुछ महीने पुलिस के साथ चोर-छिपौवल कर के नवम्बर १९३० में 'मुहम्मद बक्श' नाम से पकड़े जा कर एक महीना लाहौर क़िले में और साढ़े तीन साल दिल्ली और पंजाब की जेलों में बिताया। फिर दो मास क़िले में और दो वर्ष नज़रबन्दी में। उस के बाद कुछ महीने आगरे ('सैनिक') में, डेढ़ वर्ष कलकत्ते ('विशालभारत') में। फिर मेरठ में साहित्य-परिषद् स्थापित करने के लिए उद्योग किया; बाद में "शान्ति-निकेतन जाते हुए दिल्ली रुका तो वहीं रह गया; 'ऑल इण्डिया रेडियो' में अढ़ाई वर्ष शब्द-विग्रह के बाद त्यागपत्र दे कर जान छुड़ायी और अब ख़ाकी पहन कर मच्छर मारता हूँ—असमिया मच्छर देशी मक्खी के बराबर तो होते ही हैं।"

लिखा काफ़ी, पर सब का सब छपने से बचाया नहीं जा सका। 'भग्नदूत', 'विपथगा', 'शेखर', 'चिन्ता',—ये छप गये; दो-एक और पुस्तकों के शीघ्र छपने की आशंका है—'त्रिशंकु', कहानी-संग्रह, निबन्ध और शायद अँगरेज़ी कविता का एक संग्रह। 'शायद' यों, कि दो-एक वर्ष पाण्डुलिपि के प्रेस में पड़े रहने के बाद आशंका बहुधा टल जाया करती है और पाण्डुलिपियाँ लौट आती हैं।

रुचि बहुत सी चीज़ों की ओर है; "ख़ासकर उन सब बातों में जिन से तत्काल कोई वास्ता न हो। वैसे चित्रकला, मूर्तिकला, फ़ोटोग्राफ़ी,

मनोविश्लेषण और डॉक्टरी का खब्त है, या फिर नदी-नालों और पहाड़ी झीलों के आस-पास भटकने का। अकेले रहने का आरम्भ से ही कुछ अधिक अभ्यास है; फलतः प्रायः लोगों के बीच में भी अकेला रह जाता हूँ, जिस से सब नाराज़ हैं और 'घनिष्ठ मित्र' कोई अपने को नहीं समझता। सभा-समाजों में सिट्टी भूल जाता हूँ, जिसे कृपालु लोग 'गम्भीरता' समझते हैं और शेष लोग अहंकार। कृपालु लोगों का अल्प-मत है।"

१९४ : से—

असम से लौट कर कुछ समय नृत्य-नाट्य का संगठन और निर्देशन किया; फिर उसे छोड़ कर 'प्रतीक' निकाला—पहले इलाहाबाद से द्वैमासिक और फिर दिल्ली से मासिक रूप में, मासिक 'प्रतीक' प्रकाशकों की धोखा-धड़ी के कारण बन्द कर देना पड़ा। इस बीच अँगरेज़ी साप्ताहिक 'थॉट' का भी साहित्य-सम्पादकत्व करते रहे।

दो वर्ष से अधिक 'ऑल इण्डिया रेडियो' के पुनर्मूषिकत्व के बाद उसे छोड़ कर युरॅप चले गये और लौट कर एक वर्ष बाद पूर्व एशिया की यात्रा कर आये। 'अरे यायावर रहेगा याद' और 'एक बूँद सहसा उछली' घुमक्कड़ी के विवरण हैं; इन के अलावा छह-सात कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और दो उपन्यास।

दो वर्ष अँगरेज़ी में त्रैमासिक पत्रिका 'वाक्' निकालने की हठधर्मी के बाद फिर विदेश गये : भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्राध्यापक के रूप में अमेरिका। लौट कर समाचार साप्ताहिक 'दिनमान' का सम्पादन आरम्भ किया। इस से आगे क्या, इस के बारे में जितना कौतूहल दूसरों को होगा उस से अधिक स्वयं अपने को है।]

वक्तव्य

कविता ही कवि का परम वक्तव्य हैं; अतः यदि कविता के स्पष्टीकरण के लिए स्वयं उस के रचयिता को गद्य का आश्रय ले कर कुछ कहना पड़े तो साधारणतया इसे उस की पराजय ही समझना चाहिए। किन्तु मानव-जीवन के विकास के साथ-साथ उस को जटिलता इतनी बढ़ी है कि इस प्रकार का आत्म-स्पष्टीकरण वांछनीय हो गया है। क्यों? इस का कारण है।

कवि का कथ्य उस की आत्मा का सत्य है। (यह एक गोल सी बात है, अतः इस के सत्य होने की सम्भावना काफ़ी है!) यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है, उतना ही काव्योत्कर्षकारी है। किन्तु यदि हम यह मान लेते हैं, तब हम 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उस के कई स्तरों की उद्भावना करते हैं, और कवि इन स्तरों में से किसी पर भी हो सकता है।

और आज इसी की सम्भावना अधिक है कि कवि इन बीच के स्तरों में से किसी एक पर हो। 'व्यापकता' वैसे भी सापेक्ष्य है; जीवन की बढ़ती हुई जटिलता के परिणाम-रूप 'व्यापकता' का घेरा क्रमशः अधिकाधिक सीमित होना चाहता है।

एक समय था जब कि काव्य एक छोटे से समाज की थाती था। उस समाज के सभी सदस्यों का जीवन एकरूप होता था, अतः उन की विचार-संयोजनाओं के सूत्र भी बहुत कुछ मिलते-जुलते थे—कोई एक शब्द उन के मन में प्रायः समान चित्र या विचार या भाव उत्पन्न करता

था। इस का एक संकेत इसी बात में मिलता है कि आचार्यों ने काव्य-विषयों का वर्गीकरण सम्भव पाया, और कवि को मार्ग-दर्शन करने के लिए बता सके कि अमुक प्रसंग में अमुक-अमुक वस्तुओं का वर्णन या चित्रण करने से सफलता मिल सकेगी! आज यह बात सच नहीं रही। आज काव्य के पाठकों की जीवन परिपाटियों में घोर वैषम्य हो सकता है; एक ही सामाजिक स्तर के दो पाठकों की जीवन-परिपाटियाँ इतनी भिन्न हो सकती हैं कि उन की विचार संयोजनाओं में समानता हो ही नहीं, ऐसे शब्द बहुत कम हों जिन से दोनों के मन में एक ही प्रकार के चित्र या भाव उदित हों।

यह आज के कवि की सब से बड़ी समस्या है। यों समस्याएँ अनेक हैं—काव्य-विषय की, सामाजिक उत्तरदायित्व की, संवेदना के पुनः संस्कार की, आदि—किन्तु उन सब का स्थान इस के पीछे है, क्योंकि यह कवि-कर्म की ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और कम्यूनिकेशन (सम्प्रेषण) की समस्या है। और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सब से बड़ी शक्ति यही है। कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उस में नहीं है—शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उस में भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थ को पाठक के मन में उतार देने के साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।

प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं; यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्र में प्रयोग हुए हैं; उन से आगे बढ़ कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया, या जिन को अभेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पा कर विराम संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके। पूरी सफलता उसे नहीं मिली—जहाँ वह पाठक के विचार-संयोजक सूत्रों को नहीं छू सका, वहाँ उसे पागल प्रलापी समझा गया, या अर्थ का अनर्थ पा लिया गया। बहुत से लोग इस बात को भूल गये

कि कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है—भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़ कर उस में नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है—और अहंकार के कारण नहीं, इस लिए कि उस के भीतर इस की गहरी माँग स्पन्दित है,—इस लिए कि वह 'व्यक्ति-सत्य' के 'व्यापक सत्य' बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है पर देखता है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ, जीवन के ज्वालामुखी से बह कर आते हुए लावा से ही भर कर और जम कर रुद्ध हो गयी हैं, प्राण संचार का मार्ग उन में नहीं है।

जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उस की सम्पूर्णता में पहुँचाया जाये—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इस के बाद इतर समस्याएँ हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अधः या अन्तः या बहिर्मुखी है, इत्यादि।

मैं 'स्वान्तःसुखाय' नहीं लिखता। कोई भी कवि केवलमात्र 'स्वान्तःसुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैं ने अपने को सदा असमर्थ पाया है। अन्य मानवों की भाँति अहं मुझ में भी मुखर है, और आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं है, पर क्या आत्माभिव्यक्ति अपने-आप में सम्पूर्ण है? अपनी अभिव्यक्ति—किन्तु किस पर अभिव्यक्ति? इसी लिए 'अभिव्यक्ति' में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ, और इस के परिणामस्वरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है उस से कोई निस्तार मुझे नहीं दीखा। अभिव्यक्ति भी सामाजिक या असामाजिक वृत्तियों की हो सकती है, और आलोचक उस का मूल्यांकन करते समय ये सब बातें सोच सकता है, किन्तु वे बाद की बातें हैं। ऊपर प्रयोगशीलता को प्रेरित करने वाली जो अनिवार्यता बतायी गयी है, अभी तो उसी की सीमाओं की ओर संकेत करना चाह रहा हूँ। ऐसा प्रयोग अनुज्ञेय नहीं है जो 'किसी की किसी पर अभिव्यक्ति' के धर्म को भूल कर चलता है। जिन्हें बाल की खाल निकालने में रुचि हो, वे कह सकते हैं कि यह ग्राहक या पाठक कवि के बाहर क्यों हो—क्यों न उसी के व्यक्तित्व का एक अंश दूसरे अंश के लिए

लिखे ? अहं का ऐसा विभागीकरण अनर्थहेतुक हो सकता है; किन्तु यदि इस तर्क को मान भी लिया जाये तो भी यह स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति किसी के प्रति है और किसी की ग्राहक (या आलोचक) बुद्धि के आगे उत्तरदायी है। जो (व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड) लिख रहा है, और जो (व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड) सुख पा रहा है, वे हैं फिर भी पृथक्। भाषा उन के व्यवहार का माध्यम है, और उस की माध्यमिकता इसी में है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो, अन्यथा वह भाषा नहीं है। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करने वाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ़, 'अलौकिक' अथवा दीक्षा द्वारा गम्य हो जाना अनिवार्य है, किन्तु वह उस की शक्ति नहीं, विवशता है; धर्म नहीं, आपद्धर्म है।

आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है। उस के जीवन का एक पक्ष है उस की सामाजिक रूढ़ि की लम्बी परम्परा, जो परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ विकसित नहीं हुई; और दूसरा पक्ष है स्थिति-परिवर्तन की असाधारण तीव्र-गति जिस के साथ रूढ़ि का विकास असम्भव है। इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उस की सौन्दर्य-चेतना भी इस से आक्रान्त है। उस के उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।[१] प्रतीक द्वारा कभी-कभी वास्तविक अभिप्राय अनावृत हो जाता है—तब वह उस स्पष्ट इंगित से घबरा कर भागता है, जैसे बिजली के प्रकाश में व्यक्ति चौंक जाये। (डी० एच० लारेन्स की एक-कविता में प्रेम-प्रसंग में एकाएक बिजली चमकने पर पुरुष अपना प्रेमालाप छोड़ कर छिटक कर अलग हो जाता है, क्योंकि 'द लाइट्निंग हैज़ मेड इट टू प्लेन' बिजली ने उस व्यापार को उघड़ा कर दिया है !) और इस आन्तरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कस कर बाह्य-संघर्ष भी बैठा है, जो व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति-समूह और व्यक्ति-समूह का, वर्गों और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है और उचितानुचित की भावनाओं का अनुशासन करती है, जिस से एक दूसरे प्रकार की वर्जनाओं का पुंज खड़ा

---

१. नीचे, 'सावन-मेघ' शीर्षक कविता।

होता है, और उन के साथ ही उन के प्रति विद्रोह का स्वर जागता है।[1]

कवि के लिए इस परिस्थिति में और भी कठिनाइयाँ हैं। एक मार्ग यौन स्वप्न-सृष्टि का—दिवास्वप्नों का—है, उसे वह नहीं अपनाना चाहता। फिर वह क्या करे? यथार्थ-दर्शन केवल कुण्ठा उत्पन्न करता है। वास्तव की बीभत्सता की कसौटी पर चाँदनी खोटी दीखती है,[2] कवि अपनी काव्यपरम्परा का मूल्यांकन करता है और चारण-काल से ले कर छायावाद तक की कविता को तात्कालिक परिस्थिति अथवा जीवन-प्रणाली पर घटित कर के समझ लेता; किन्तु फिर भी आज के जीवन के दबाव की अभिव्यंजना का मार्ग उसे नहीं दीखता। क्योंकि आज उस की अनुभूतियाँ तीव्रतर हैं तो वर्जनाएँ भी कठोरतर हैं; परिणाम है, 'व्यंजना-भीरु नेत्रों का विस्फार', जो 'अश्लील' इस लिए है कि भावनाओं और वर्जनाओं के संघर्ष को सहसा सामने ले आता है।

और प्रेम? एक थका-माँदा पक्षी, जो साँझ घिरती देख कर आशंका से भी भरता है और साहस संचित कर के लड़ता भी जा रहा है। निराशा और कुण्ठा से धैर्यपूर्वक लड़ता हुआ, किन्तु विश्वास की निष्कम्प अवस्था से कुछ नीचे—आज के प्रेम का सर्वोत्तम सम्भव रूप यही है। अन्धकार और आलोक का अनुक्रम, धृति और गति का सामंजस्य, वासना और विवेक का संयोग, उदासी और खण्डन के बीच में विश्वास का मुक्त स्वर जो सबल कई बार हो उठता है पर निष्कम्प कभी नहीं हो पाता।[3]

अब केवल एक बात और कहनी है। वह यह कि मेरी बात आप अनुग्रह-पूर्वक सुन तो लीजिए, पर मानिए मत—मानिए उसी को, विश्वास उसी का कीजिए, जो आप को मेरी कविता में मिले। बाक़ी सब तो आत्म-विडम्बना है—अपनी कविता की स्वयं की हुई 'पैरोडी'।

—*'अज्ञेय'*

---

१. नीचे, 'जनाह्वान', 'वर्ग-भावना'।

२. नीचे, 'शिशिर की राकानिशा'।

३. नीचे, 'रात होते—प्रात होते', 'बाहु मेरे घेर कर तुम को रुके रहे', 'चार का गजर', 'आज मैं पहचानता हूँ राशियाँ', 'चरण पर धर चरण', 'चेहरा उदास', 'मुक्ति'।

जनाह्वान

ठहर, ठहर, आततायी ! ज़रा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा
रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय,
मेरी अवहेलना की टक्कर सहार ले—
क्षण भर स्थिर खड़ा रह ले—
मेरे दृढ़ पौरुष की एक चोट सह ले !

नूतन प्रचण्डतर स्वर से
आततायी, आज तुझ को पुकार रहा मैं—
रणोद्यत दुर्निवार ललकार रहा मैं—
कौन हूँ मैं ?
तेरा दीन-दुःखी पद-दलित पराजित
आज जो कि क्रुद्ध सर्प-से अतीत को जगा
'मैं' से 'हम' हो गया !
'मैं' के झूठे अहंकार ने हराया मुझे
तेरे आगे विवश झुकाया मुझे,
किन्तु आज मेरे इन बाहुओं में शक्ति है,
मेरे इस पागल हृदय में भरी भक्ति है,—
आज क्यों कि मेरे पीछे जाग्रत् अतीत है,
और मेरे आगे है अनन्त
आदिहीन शेषहीन पथ वह
जिस पर
एक दृढ़ पैर का ही स्थान है
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु-सा गड़ा हुआ

तेरी प्राण-पीठिका पै लिंग-सा खड़ा हुआ !
और हाँ, भविष्य के अ-जनमे प्रवाह से
भावी नवयुग के ज्वलन्त प्राणदाह से
प्रबल प्रतापवान्, निविड प्रदाहमान
छोड़ता स्फुलिंग पै स्फुलिंग
आस-पास बाधामुक्त हो बिखेरता—
क्षार, क्षार—धूल, धूल—
और वह धूल तेरे गौरव की धूल है :
मेरा पथ तेरे ध्वस्त-गौरव का पथ है
और तेरे भूत काले पापों में प्रवहमान
लाल आग
मेरे भावी गौरव का रथ है !

सावन-मेघ

१

घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र-सा, यदि तड़ित् से झुलसा हुआ-सा।

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आयी है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारि ?

२

मेघ-आकुल गगन को मैं देखता था
बन विरह के लक्षणों की मूर्ति—
        सूक्ति की फिर नायिकाएँ
        शास्त्र-संगत प्रेम-क्रीड़ाएँ,
घुमड़ती थीं बादलों में
आर्द्र, कच्ची वासना के धूम-सी।

जब कि सहसा तड़ित् के आघात से घिर कर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक,
        बाध्य देखा—
स्नेह से आलिप्त

बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल
बद्ध
वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगो
औ' समर्पित !

उषःकाल का भव्य शान्ति

निविडाऽन्धकार
को मूर्त रूप दे देने वाली
एक अकिंचन निष्प्रभ अनाहूत
अज्ञात द्युतिकिरण—
        आसन्न-पतन, बिन जमी ओस की अन्तिम
        ईषत्करुण, स्निग्ध कातर शीतलता
        अस्पष्ट किन्तु अनुभूत—
दूर किसी मीनार-क्रोड़ से मुल्ला का
एकरूप पर अनेक भावोद्दीपक
गम्भीर आऽह्वाऽन—
'अस्सला तु खैरुम्मिनिन्नाऽ'—
        निकट गली में
        किसी निष्करुण जन से बिन-कारण पदाक्रान्त
        पिल्ले की करुण रिरियाहट—
पार गली के छप्पर-तल में
शिशु का तुनक-तुनक कर रोना, मातृ-वक्ष को आतुर;
        ऊपर
        व्याप्त ओर-छोर-मुक्त नीलाकाश—
        दो अनथक, अपलक-द्युति ग्रह
        रात-रात में नभ का आधा व्यास पार कर
        फिर भी नियति-बद्ध अग्रसर।
उषःकाल :
अनायास उठ गया चेतना से निद्रा का आँचल—
मिला न पर पार्थक्य, पड़ा मैं स्तब्ध अचंचल;
मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता—

मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला—
मैं वह छप्पर-तल का अहंलीन शिशु-भिक्षुक—
और हाँ, निश्चय,
मैं वह तारक-युग्म,
अपलक-द्युति, अनथक-गति, बद्ध-नियति
जो पार किये जा रहा नील मरु-प्रांगण नभ का।
मैं हूँ ये सब, ये सब मुझ में जीवित—
मेरे कारण अवगत—मेरे चेतन में अस्तित्व-प्राप्त!

उषःकाल
उषःकाल की रहस्यमय
भव्य शान्ति!

शिशिर की राका-निशा

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !
        दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह
            शून्य के अवलेप का प्रस्तार—
इधर—केवल झलमलाते
चेत-हर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु, टुंडे
नग्न, बुच्चे दईमारे पेड़ !
पास फिर दो भग्न गुम्बद—
निविडता को भेदती चीत्कार-सी मीनार—
बाँस की टूटी हुई टट्टी, लटकती
एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो-चार !

निकट-तर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्यधन गदहा।

निकटतम—
रीढ़ बंकिम किये, निश्चय किन्तु लोलुप
            खड़ा वन्य बिलार—
पीछे, गोयठों के गन्धमय अम्बार !
गा गया सब राजकवि, फिर राजपथ पर खो गया।
गा गया चारण, शरण फिर शूर की आ कर,
                    निरापद सो गया।

गा गया फिर भक्त, ढुलमुल चाटुता से
वासना को झलमला कर
गा गया अन्तिम प्रहर में वेदना-प्रिय अलस, तन्द्रिल,
कल्पना का लाड़ला
कवि निपट भावावेश से निर्वेद !
किन्तु अब-निस्तब्ध-संस्कृत
लोचनों का भाव-संकुल, व्यंजना का भीरु
फटा-सा अश्लील-सा विस्फार—
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
वंचना है चाँदनी सित
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

रात होते-प्रात होते

प्रात होते—
सबल पंखों की अकेली एक मीठी चोट से
अनुगता मुझ को बना कर बावली को—
जान कर मैं अनुगता हूँ—
उस विदा के विरह के विच्छेद से तीखे निमिष में भी
युता हूँ—
उड़ गया वह बावला
पंछी सुनहला
कर प्रहर्षित देह की रोमावली को।
प्रात होते।
वही जो
थके पंखों को समेटे—
आसरे की माँग पर विश्वास की चादर लपेटे—
चंचु की उन्मुख विकलता के सहारे
नम रही ग्रीवा उठाये—
सिहरता-सा, काँपता-सा,
नीड़ की—नीड़स्थ सब कुछ की प्रतीक्षा भाँपता-सा,
निकट अपनों के—निकट भवितव्य की
अपनी प्रतिज्ञा के—
निकटतम इस वि-बुध सपनों की सखी के
आ गया था
आ गया था
रात होते!

जैसे तुझे स्वीकार हो

जैसे तुझे स्वीकार हो !
डोलती डाली, प्रकम्पित पात, पाटल-स्तम्भ विलुलित
खिल गया है सुमन मृदु-दल, बिखरते किंजल्क प्रमुदित
स्नात मधु से अंग रंजित-राग केशर-अंजली से
स्तब्ध सौरभ है निवेदित,
मलय-मारुत, और अब जैसे तुझे स्वीकार हो।

पंख कम्पन-शिथिल, ग्रीवा उठी, डगमग पैर,
तन्मय दीठ अपलक—
कौन ऋतु है, राशि क्या, है कौन-सा नक्षत्र, गत-शंका, द्विधा-हत,
बिन्दु अथवा वज्र हो—
चंचु खोले आत्मविस्मृत हो गया है यती चातक—
स्वाति, नीरद, नील-द्युति, जैसे तुझे स्वीकार हो।

अभ्र लख भ्रू-चाप-सा, नीचे प्रतीक्षा में स्तिमित निःशब्द
धरा पाँवर-सी बिछी है, वक्ष उद्वेलित हुआ है स्तब्ध
चरण की ही चाप किंवा छाप तेरे तरल चुम्बन की—
महाबल हे इन्द्र, अब जैसे तुझे स्वीकार हो।

मैं खड़ा खोले हृदय के सभी ममता द्वार,
नमित मेरा भाल, आत्मा नमित-तर, है नमित-तम
मम भावना संसार,
फूट निकला है न जाने कौन हृत्तल बेधता-सा
निवेदन का अत्तल पारावार,
अभय-कर हो, वरद-कर हो, तिरस्कारी वर्जना, हो प्यार
तुझे, प्राणाधार, जैसे हो तुझे स्वीकार—
सखे, चिन्मय देवता, जैसे तुझे स्वीकार हो !

जयतु हे कंटक चिरन्तन ![1]

जय, सदा जय हो !
प्रबल झंझा के थपेड़ों से पिटे हैं फूल—
भूमि पर, नभ पर, पवन के चक्षुओं में भी भरी है धूल,
काव्य के झंखाड़ में बाक़ी बचे बस
निविड़ छायावाद के निष्प्राण रूखे शूल—
जयतु, हे कंटक चिरन्तन, जय सदा जय हो।
नेत्र विस्फारित, अचम्भित दृष्टि, हृद्गति स्तब्ध,
सहमी बुद्धि भौचक
आह यह निलज्ज पाठक है नहीं अभिभूत अब तक,
आस में बैठा हुआ है—
पैर चुभती ठीकरी भी यह कभी हो जाय रोचक—

---

१. 'जैसे तुझे स्वीकार हो' शीर्षक कविता दिल्ली की एक पत्रिका में प्रकाशित हुई, तो एक कृपालु पत्रकार ने एक स्थानीय पत्र में उस का अर्थ करने के लिए पुरस्कार घोषित किया। शर्त यह थी कि 'अर्थ' ही किया जाये, 'व्याख्या' न की जाये। मेरा अनुमान था कि इस जाल में कुछ लोग अवश्य फँसेंगे, और हुआ भी ऐसा ही—कुछ उत्साही व्यक्तियों ने (मेरा पक्ष लेने के लिए मैं उन की सदिच्छा का क़ायल तो हूँ पर उन के सद्विवेक का नहीं!) अर्थ कर के भेजा, और उत्तर पाया कि यह तो 'अर्थ' नहीं, 'व्याख्या' है। एक बार अचानक इस आशय का एक कार्ड एक मित्र के घर देख कर (कार्ड और किसी के नाम था किन्तु डाकिये की भूल से वहाँ चला आया था) मैं ने सोचा कि कविता का अर्थ स्वयं करना चाहिए। अतः छद्मनाम से सम्पादक के नाम इस आशय का पत्र लिख कर कि 'इन महाकवि की कविता इतनी गूढ़ होती है कि साधारण गद्य में उस की व्याख्या ही हो सकती है, अर्थ नहीं; अतः मैं उस का अर्थ पद्य में कर के भेज रहा हूँ; आशा है आप इस सर्वथा सम्पूर्ण अर्थ को प्रकाशित कर देंगे।' मैं ने यह पैरोडी भेज दी जो पत्र में सम्पादकीय नोट के साथ छपी भी।

पत्रकार सज्जनों को पुरस्कार देना नहीं था, अतः वह तो मुझे नहीं मिला, पर वैसे मैं ने समझा कि प्रकाशन ही काफ़ी पुरस्कार है; क्योंकि वे अभी तक नहीं जानते कि 'लिखे ईसा पढ़े मूसा' की इस कहानी में ईसा ही मूसा है। आशा है वे मुझे क्षमा कर देंगे क्योंकि मेरा आचरण शास्त्र-सम्मत है, षत्रकारे पत्रकारत्वं—इति हितोपदेशः।

किन्तु कविते ! कुलिश-सो कटु क्लिष्ट
लौह के हे चणक, जय, तेरी सदा जय हो।

बिछ गये हैं रबड़ के ये छन्द ज्यों शैतान की हो आंत,
है प्रतीक्षा के पुलक में कवि सभी अपने निपोरे दाँत
तालियाँ हो, गालियाँ हो, चप्पलों की मार, घूँसे-लात,
महाबल हे काव्य-रजनी के निशाचर, जय सदा जय हो।

मैं खड़ा खोले सभी कटिबन्ध पिंगल के,
मुक्त मेरे छन्द, भाषा मुक्ततर, हैं मुक्ततम मम
भाव पागल के।
ज्ञेय हो, दुर्ज्ञेय हो, अज्ञेय निश्चय हो,
अर्थ के अभिलाषियों से सतत निर्भय हो,
असुर दुर्दम, दैत्य-कवि, तेरी सदा जय हो !
जय, पुनः जय सदा जय जय,
जय, सदा जय हो !

चार का गजर

चार का गजर कहीं खड़का :
रात में उचट गयी नींद मेरी सहसा—
छोटे-छोटे, बिखरे-से, शुभ्र अभ्र-खण्डों बीच द्रुतपद
भागा जा रहा है चाँद :
जगा हूँ मैं एक स्वप्न देखता :

जाने कौन स्थान है, मैं खड़ा एक मंच पर
एक हाथ ऊँचा किये। भाषण के बीच में
रुक कर नीचे देखता हूँ, जुटी भीड़ को
और फिर निज उठे कर को
जिस में मैं एक चित्र थामे हूँ;
और फिर मुग्ध-नेत्र चित्र को ही देखता—
निर्निमेष लोचन-युगल जिस में कि युवा कवि के
देखे जा रहे हैं, एक छायामय
किन्तु दीप्तिमान नारी मुख को !
आकृति नहीं है स्पष्ट, किन्तु मानो फलक को भेदती-सी
दृष्टि उन अप्सरा की आँखों की
बैठी जा रही है कवि-युवक के उर में।

मेरी भावधारा फिर वेष्टित हो शब्द से
बह चलती है जन-संकुल की ओर (मानो निम्नगा
हो के नभ-गंगा बनी धौत-पाप भगीरथ-तारिणी)
कहता हूँ, "देखो, यहाँ चित्रण किया है चित्रकार ने
एकनिष्ठ, ध्येय-रत तप-शील साधना का;
दुर्निवार चला जा रहा है कवि-युवा निज पथ पर
उर धारे पुंजीकृत कल्पना की स्वप्नमूर्त प्रतिमा।

एक सीमा होती है उलांघ कर जिस को
बनता विसर्जन है विम्ब उपलब्धि का :
देखो, कैसे तन्मय हुआ है वह आत्मसात् !"

नीचे कहीं, संकुल के बीच से
आया एक स्वर, तीखा व्यंग्य-युक्त, मुझे ललकारता—
"तेरे पास भी तो प्रतिकृति है
छायारूप तेरे निज मोह की यवनिका !"
मानो मेरा रोम-रोम पुलका प्रहर्ष से,
मैं ने एकाएक चीन्ह लिया उस फलक को बेधती-सी
छायाकृति बीच जड़ी अपलक आँखों को—
तेरी थीं वे आँखें, आर्द्र, दीप्तियुक्त, मानो किसी दूरतम
तारे की चमक हो !
और फिर गूँज गया मेरे प्राण-गह्वर के सूने में
वह प्रश्न—'तेरे पास भी तो बस चित्र है—
प्रतिकृति, छायामय'

खुल गया चेतना का द्वार तभी
उठ गयी मेरे मोह-स्वप्न की यवनिका—
भिंची मेरी मुट्ठियाँ थीं
उन की पकड़ किन्तु बांधे एक शून्यता के
श्वास को :

छोटे-छोटे, बिखरे-से, शुभ्र बादलों को पार करता—
मानो कोई तप-क्षीण कापालिक
साध्य-साधना की बल बुझी, झरी
बची-खुची राख पर धीमे पैर रखता—
नीरव, चपलतर गति से
चांद भागा जा रहा है
द्रुतपद—
जागा हूँ मैं स्वप्न से कि
चार का गजर कहीं खड़का !

वर्ग-भावना-सटीक

अवतंसों का वर्ग हमारा
खड्गधार भी न्यायकार भी !
हम ने क्षुद्र तुच्छतम जन से
अनायास ही बाँट लिया
श्रम-भार भी सुख-भार भी।
बल्कि बढ़ गये हैं आगे भी—
हम निश्चय ही हैं उदार भी।
....

टीका (यद्यपि भाष्यकार है दुर्मुख) :
हम लोगों का एक मात्र श्रम है—सुरति-श्रम,
उस अन्त्यज का एक मात्र सुख है—मैथुन-सुख !

भादों की उमस

सहम कर थम-से गये हैं बोल बुलबुल के
मुग्ध, अनझिप रह गये हैं नेत्र पाटल के,
उमस में बेकल, अचल हैं पात चलदल के—
नियति मानो बँध गयी है व्यास में पल के।

लास्य कर कौंधी तड़ित् उस पार बादल के,
वेदना के दो उपेक्षित वारि-कण ढल के,
प्रश्न जागा निम्नतर स्तर बेध हृत्तल के—
छा गये कैसे अजाने, सहपथिक कल के ?

चेहरा उदास

रात के रहस्यमय, स्पन्दित तिमिर को
भेदती कटार-सी
कौंध गयी बौखलाये मोर की पुकार—
वायु को कँपाती हुई,
छोटे-छोटे बिन जमे ओस बिन्दुओं को झकझोरती,
दुस्सह व्यथा-सी !
नभ पार !

मेरे स्मृति-गगन में सहसा
अन्धकार चीर कर आया एक चेहरा उदास।
आँखों की पुतलियों में सोयी थीं बिजुलियाँ—
किन्तु वेदना का आर्द्र घन छाया आस-पास !
एक क्षण। केकी की पुकार से फटा हुआ
रात का रहस्यगर्भ स्पन्दित तिमिर फिर
व्रण निज ढक कर फैल कर मिल गया—
जैसे कोई निराकार चेतना
जीवन की अल्पतम
अनुभव-लहर की चोट सोख लेती है।
और माना चोट खाये स्थल को
देने को विशेष कोई स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना—
रात के कुहासे में से एक छोटा तारा फूट निकला।

किन्तु मेरी स्मृति के
ओर-छोर-मुक्त, गतियुक्त-से गगन में

थम गया, जम गया वह स्थिर नेत्रयुक्त चेहरा उदास—
आँखों में सुलाये हुए तड़पती बिजुली—
और आर्द्र वेदना के घन छाये आस-पास !

मेरी चेतना उसी के चिन्तन से प्लावित है युग-युग—
चोट नहीं, वही मेरी जीवनानुभूति है।
खुला ही रहे ये मेरा वातायन वेदना का,
देखता रहूँ मैं सदा अपलक
वह छवि, दीप्तियुक्त—छायामय—
मिटो मत मेरे स्मृति-पटल के तल से—
हटो मत मेरी प्यासी दृष्टि के क्षितिज से—
मेरे एकमात्र संगी चेहरे उदास—
मुझे चाह नहीं अन्य स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना की
तुम्हीं मेरा जीवन-कुहासा भेद उगा तारा हो !

चरण पर धर चरण

चरण पर धर
सिहरते-से चरण
आज भी मैं इस सुनहले मार्ग पर
पकड़ लेने को पदों से
मृदुल तेरे पद-युगल के अरुण-तल की
छाप वह मृदुतर
जिसे क्षण-भर पूर्व ही निज
लोचनों की उछटती-सी बेकली से
मैं चुका हूँ चूम बारम्बार—
कर रहा हूँ, प्रिये, तेरा मैं अनुकरण
मुग्ध, तन्मय—
चरण पर धर
सिहरते-से चरण।
पार्श्व मेरा—
किन्तु इस से क्या कि मेरे साथ चलता कौन है—
जब कि वह है साथ मेरी यन्त्र-चालित देह के—
और मैं—मेरा परमतम तत्त्व वलयित
साथ तेरे प्राण के—
जब कि आत्मा यह अनाहत और अक्षत
चरण-तल की छाप के उस कनक-शतदल
कमल से बिछुड़ी अकेली दोल पँखुड़ी में चमकती
लोल जल की बूँद-सा पर-ज्योति-गुम्फित
तद्गत और अतिशः मौन है !

मुक्ति

निमिष-भर को सो गया था प्यार का प्रहरी—
उस निमिष में कट गयी है कठिन तप की शिंजिनी दुहरी—
सत्य का वह सनसनाता तीर जा पहुँचा हृदय के पार—
खोल दो अब वंचना के दुर्ग के सब रुद्ध सिंह-द्वार !

एक अन्तिम निमिष-भर के ही लिए कट जाय मायापाश—
एक क्षण-भर वक्ष के सूने कुहर को झनझना कर
चला जावे झुलस कर भी तप्त अन्तिम मुक्ति का प्रश्वास—
कब तलक यह आत्म-संचय की कृपणता ! यह घुमड़ता त्रास !
दान कर दो खुले कर से, खुले उर से होम कर दो
स्वयं को समिधा बना कर—
शून्य होगा, तिमिरमय भी, तुम यही जानो कि
अनुक्षण मुक्त है आकाश !

आज मैं पहचानता हूँ

आज मैं पहचानता हूँ राशियाँ, नक्षत्र,
ग्रहों की गति, कुग्रहों के कुछ उपद्रव भी,
मेखला आकाश की;
जानता हूँ मापना दिनमान;
समझता हूँ अयन-विषुवत्,
सूर्य के धब्बे, कलाएँ चन्द्रमा की
गति अखिल इस सौर-मण्डल के विवर्तन की—
और इन सब से परे, मैं सोचता हूँ
ज़रा कुछ-कुछ भांपने-सा भी लगा हूँ
इस गहन ब्रह्माण्ड के अन्तःस्थ विधि का अर्थ—

अर्थ !—रे कितनी निरर्थक—वंचना की मोह-स्वर्णिम
यह यवनिका—
यह चटक, तारों सजा फूहड़ निलज आकाश—
अर्थ कितना उभर आता था अचानक
अल्पतम भी तारिका की चमक को जब
देखते ही मैं तुरत, निःशब्द तुलना में तुम्हारे
कुछ उनींदे लोचनों की युगल जोड़ी कर लिया करता
कभी था याद !

बाहु मेरे रुके रहे

बाहु मेरे घेर कर तुम को रुके रहे।
रात की गुंजरित स्पन्दनहीनता में
निभृत की उत्कट प्रतीक्षा में
नहीं माँगा भी तुम्हारे प्यार का संकेत
किसी सूनी वाटिका की दूब से आवृत
विस्मृता-सी, स्मरण की नीरव उसासों के सिरिस-से
परस से भी सिहर-सकुचाती
वीथिका के उभय-तट मालंच से अवलम्बिता,
दो लताओं के प्रलम्बित अंकुरों-से
प्राण दोनों के
व्यर्थ कर के शब्द को, शब्दार्थ को, स्वर को,
भूल कर के प्रस्फुटन, विकसन, फलागम—
अहेतुक आश्वासना से
बस, झुके रहे।
बाहु मेरे घेर कर तुम को रुके रहे।

नहीं मुझ में तीव्र कोई अहं की अभिव्यंजना जागी।
नहीं चाहे प्राण तुम प्रत्येक स्पन्दन की
बनो बेबस फेन-सी उच्छ्वसित समभागी—
चेतना की दो प्रवाहित पृथक् धारों-सी
जो कि संगम के अनन्तर भी
रंग अपने पृथक् रखती हैं,
और जिन की
घुली, उलझी, परस्पर-वलयित,
द्रवित देहों में

शान्ति में गति-से, परम कैवल्य में संवेदना-से,
भँवर हैं उद्भ्रान्त मँडलाते
(यद्यपि आगे फिर बृहत्तर
ऐक्य में दोनों पृथक् अस्तित्व होते लीन अनजाने)

हम रहे, झर चलीं बूँदें काल-निर्झर की
उदधि की झंझा-प्रताड़ित द्रुत लहर हम ने नहीं माँगी,
वासना से, याचना से हम परे थे—
सहज अनुरागी।
नहीं मुझ में अहं की अभिव्यंजना जागी।
नहीं उमड़ा घुमड़ता सक्षुब्ध उर में
वासना का बुदबुदाता ज्वार।
नहीं दूभर हुआ हम को स्वयं अपना दान—
मिलन के अतिरेक का प्रस्वेद-श्लथ सम्भार!
वक्ष थे संलग्न, पर अस्तित्व के उस इन्द्रधनु के छोर,
नहीं करना चाहते थे
निरे मानव जीव की शत-फण बुभुक्षा के
कुलाहल का आस्फालन;
उस कुहर में नहीं गूँजी
अलग हृदयों की अनुक्षण तीव्रतर होती हुई धड़कन—
आत्मलय के रुद्र-ताण्डव का प्रमाथी
तप्त आवाहन;
क्योंकि दोनों चल रहे थे एक ही समताल की गति पर।
—चिर-अनातुर, चिर-अचंचल, महद्गति, बेरोक,
काल के युगचरण की शाश्वत-प्रवाही चाप सहसा
अनुरणित कर गयी दुहरी
पृथक्ता द्वारा घनावृत ऐक्य को।
देव-दम्पति के परस्पर पार्श्ववर्ती मन्दिरों के
शिखर की ज्यों
युगल-कलशी को कँपाता गूँज जावे
अगुरु-धूमिल आरती का नाद!

—एवमेव

शमन में जीवन जगा, धृति को चिरन्तन गति बना कर

स्तब्ध-स्वर

बोला हमारा प्यार

नहीं उमड़ा वासना का ज्वार।

किस ने देखा चाँद

किस ने देखा चाँद—
किस ने, जिसे न दीखा उस में क्रमशः विकसित
एक मात्र वह स्मित-मुख, जो है
अलग-अलग प्रत्येक के लिए,
किन्तु अन्ततः है अभिन्न—
है अभिन्न, निष्कम्प, अनिर्वच अनभिवद्य; है युगातीत;
एकाकी—
एकमात्र !

बदली के बाद

तीन दिन बदली के गये, आज सहसा
खुल-सी गयी हैं दो पहाड़ियों की श्रेणियाँ
और बीच के अबाध अन्तराल में
शुभ्र, धौत—
मानो स्फुट अधरों के बीच से प्रकृति के
बिखर गया हो कल हास्य,
एक क्रीड़ा-लोल, अमित लहर-सा—

नाँघ कर मानस का शून्यतम
निःसृत हुआ है द्युत
तेरे प्रति मेरे कृतबोध का प्रकाश—
चेतना की मेखला-सी
जीवनानुभूति की पहाड़ियों के बीच मेरी
विनत कृतज्ञता
फैल गयी खुले आकाश-सी।

पुनश्च

कहते हैं कि जीवन के अन्तिम क्षणों के प्रत्यवलोकन में मनुष्य उन्हीं सब पापों का अनुतप्त स्मरण करता है जिन्हें वह कर सकता था लेकिन जिन के लिए वह साहस नहीं जुटा पाया। प्रस्तुत प्रत्यवलोकन वैसे चरम क्षण का नहीं है, इस लिए न किये हुए पापों की ओर लुब्ध दृष्टि डालने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इस समय जो प्रश्न-भाव मन में है वह अकृत को ले कर नहीं, 'कृतं स्मर' से ही अनुशासित है।

मुझे सन्तोष है कि बीस वर्ष पहले 'तार सप्तक' में अपने वक्तव्य के रूप में जो कुछ लिखा था उस में से कुछ भी वापस लेना आवश्यक नहीं जान पड़ता। निःसन्देह बहुत-सी बातों को आज दूसरे ढंग से कहूँगा; पर सिद्धान्त की मुख्य बातें ज्यों की त्यों हैं और जिन बातों को दूसरे ढंग से कहना चाहूँगा उन का महत्त्व अपेक्षया कम है।

पाठक चाहें तो इस बात का यह अर्थ भी लगा सकते हैं कि मैं ने इन बीस वर्षों में कुछ नहीं सीखा। यह बात बिलकुल ग़लत होगी। सीखा बहुत कुछ। यह भी कह सकता हूँ कि कविता लिखना भी बाद में ही थोड़ा-बहुत सीखा, भाषा लिखना भी सीखता ही रहा।

बात असल में यह है कि पिछले वक्तव्य में मैं ने जो प्रश्न उठाया था वह एक प्रकार से काव्य का चिरन्तन प्रश्न है। इसी लिए उसे न कभी बदलने की आवश्यकता पड़ती है न वापस लेने की। युग-सम्पृक्त उत्तर बदलते रहते हैं और उत्तरों के अनुरूप हम प्रश्न को भी नये-नये ढंग से कहते हैं; लेकिन वास्तव में प्रश्न बदलता नहीं है।

आज भी मेरे सामने जो समस्या है, और जिस का हल पा लेना मैं अपने कवि-जीवन की चरम उपलब्धि मानूँगा, वह अर्थवान् शब्द की समस्या है। काव्य सब से पहले शब्द है। और सब से अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शब्द का ज्ञान—शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़—ही कृतिकार को कृति बनाती है। ध्वनि, लय, छन्द आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते और इसी में विलय होते हैं। इतना ही नहीं, सारे सामाजिक सन्दर्भ भी यहीं से निकलते हैं: इसी में युग-सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है। किसी हद तक समकालीन आलोचना की अन्धेरगर्दी और (—अच्छी बात है, मैं स्वीकार करता हूँ क्योंकि शायद मुझ पर ही इस का बोझ है!—) (नये कवि के बचकाने दुराग्रह भी इसी में-से निकलते हैं और एक दिन!—) इसी में विलय होंगे। कवि जब 'छन्द' को अमान्य करता है, तब उस के सामने वह उस मात्रिक बन्धन के रूप में होता है जो शब्द की अर्थवत्ता को क्षीण करता है; दूसरी ओर पण्डित आलोचक जब छन्द की बात करता है तब वह उस आभ्यन्तर अनुशासन की बात सोचता है जो शक्ति का स्रोत है, जो अर्थवत्ता को गहराई देता है। इस प्रकार पथ और प्रतिपक्ष की स्थिति ही नहीं रहती क्योंकि दोनों पहलवान अलग-अलग अखाड़ों में खम ठोकते रह जाते हैं!

इसी प्रकार एक ओर 'सामाजिक उत्तरदायित्व' की और दूसरी ओर 'ईमानदारी' (=अपने प्रति दायित्व) की दुहाई देने वाले भी अलग-अलग अखाड़ों में अपने पैंतरे दिखाते हैं और जोड़ होने की सम्भावना ही नहीं होने देते; क्योंकि सामाजिक उत्तरदायित्व ओढ़ लेने से ही कृतित्व के क्षेत्र में कोई समस्या नहीं हल होती—इतना ही होता है कि रोजमर्रा जीवन में काम आने वाली 'प्रयोजनवती भाषा' का व्यवहार करते समय आप अधिक सतर्क हो जाते हैं—चाहे प्रयोजनों के सामाजिक मूल्यांकन में, चाहे अपनी बात और अपने काम (या अपनी नीयत) में सामंजस्य के मूल्यांकन में। यानी आप रह जाते हैं सामाजिक मूल्यों के क्षेत्र में ही; रचना-प्रक्रिया के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पाते। लेकिन शब्द की अर्थवत्ता की खोज में शब्द की ऐतिहासिक और अर्थ की सामाजिक परख दोनों निहित हैं, और अर्थवान् शब्द का संवेदन (सम्प्रेषण) हो ही नहीं सकता बिना युग-सम्पृक्ति के। जो कवि शब्द के संस्कार के प्रति सजग नहीं है

पुनश्च

कहते हैं कि जीवन के अन्तिम क्षणों के प्रत्यवलोकन में मनुष्य उन्हीं सब पापों का अनुतप्त स्मरण करता है जिन्हें वह कर सकता था लेकिन जिन के लिए वह साहस नहीं जुटा पाया। प्रस्तुत प्रत्यवलोकन वैसे चरम क्षण का नहीं है, इस लिए न किये हुए पापों की ओर लुब्ध दृष्टि डालने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। इस समय जो प्रश्न-भाव मन में है वह अकृत को ले कर नहीं, 'कृतं स्मर' से ही अनुशासित है।

मुझे सन्तोष है कि बीस वर्ष पहले 'तार सप्तक' में अपने वक्तव्य के रूप में जो कुछ लिखा था उस में से कुछ भी वापस लेना आवश्यक नहीं जान पड़ता। निःसन्देह बहुत-सी बातों को आज दूसरे ढंग से कहूँगा; पर सिद्धान्त की मुख्य बातें ज्यों की त्यों हैं और जिन बातों को दूसरे ढंग से कहना चाहूँगा उन का महत्त्व अपेक्षया कम है।

पाठक चाहें तो इस बात का यह अर्थ भी लगा सकते हैं कि मैं ने इन बीस वर्षों में कुछ नहीं सीखा। यह बात बिलकुल ग़लत होगी। सीखा बहुत कुछ। यह भी कह सकता हूँ कि कविता लिखना भी बाद में ही थोड़ा-बहुत सीखा, भाषा लिखना भी सीखता ही रहा।

बात असल में यह है कि पिछले वक्तव्य में मैं ने जो प्रश्न उठाया था वह एक प्रकार से काव्य का चिरन्तन प्रश्न है। इसी लिए उसे न कभी बदलने की आवश्यकता पड़ती है न वापस लेने की। युग-सम्पृक्त उत्तर बदलते रहते हैं और उत्तरों के अनुरूप हम प्रश्न को भी नये-नये ढंग से कहते हैं; लेकिन वास्तव में प्रश्न बदलता नहीं है।

आज भी मेरे सामने जो समस्या है, और जिस का हल पा लेना मैं अपने कवि-जीवन की चरम उपलब्धि मानूँगा, वह अर्थवान् शब्द की समस्या है। काव्य सब से पहले शब्द है। और सब से अन्त में भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं। शब्द का ज्ञान—शब्द को अर्थवत्ता की सही पकड़—ही कृतिकार को कृति बनाती है। ध्वनि, लय, छन्द आदि के सभी प्रश्न इसी में से निकलते और इसी में विलय होते हैं। इतना ही नहीं, सारे सामाजिक सन्दर्भ भी यहीं से निकलते हैं : इसी में युग-सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है। किसी हद तक समकालीन आलोचना की अन्धेरगर्दी और (—अच्छी बात है, मैं स्वीकार करता हूँ क्योंकि शायद मुझ पर ही इस का बोझ है !—) (नये कवि के बचकाने दुराग्रह भी इसी में-से निकलते हैं और एक दिन ! —) इसी में विलय होंगे। कवि जब 'छन्द' को अमान्य करता है, तब उस के सामने वह उस मात्रिक बन्धन के रूप में होता है जो शब्द की अर्थवत्ता को क्षीण करता है; दूसरी ओर पण्डित आलोचक जब छन्द की बात करता है तब वह उस आभ्यन्तर अनुशासन की बात सोचता है जो शक्ति का स्रोत है, जो अर्थवत्ता को गहराई देता है। इस प्रकार पथ और प्रतिपक्ष को स्थिति ही नहीं रहती क्योंकि दोनों पहलवान अलग-अलग अखाड़ों में खम ठोकते रह जाते हैं !

इसी प्रकार एक ओर 'सामाजिक उत्तरदायित्व' की और दूसरी ओर 'ईमानदारी' (=अपने प्रति दायित्व) की दुहाई देने वाले भी अलग-अलग अखाड़ों में अपने पैंतरे दिखाते हैं और जोड़ होने की सम्भावना ही नहीं होने देते; क्योंकि सामाजिक उत्तरदायित्व ओढ़ लेने से ही कृतित्व के क्षेत्र में कोई समस्या नहीं हल होती—इतना ही होता है कि रोज़मर्रा जीवन में काम आने वाली 'प्रयोजनवती भाषा' का व्यवहार करते समय आप अधिक सतर्क हो जाते हैं—चाहे प्रयोजनों के सामाजिक मूल्यांकन में, चाहे अपनी बात और अपने काम (या अपनी नीयत) में सामंजस्य के मूल्यांकन में। यानी आप रह जाते हैं सामाजिक मूल्यों के क्षेत्र में ही; रचना-प्रक्रिया के क्षेत्र में प्रवेश नहीं पाते। लेकिन शब्द की अर्थवत्ता की खोज में शब्द की ऐतिहासिक और अर्थ की सामाजिक परख दोनों निहित हैं, और अर्थवान् शब्द का संवेदन (सम्प्रेषण) हो ही नहीं सकता बिना युग-सम्पृक्ति के। जो कवि शब्द के संस्कार के प्रति सजग नहीं है

(और जैसे जीव का हर कर्म उस के संस्कार को बदलता है वैसे ही शब्द का प्रत्येक उपयोग उसे नया संस्कार देता है) वह अर्थवान् शब्द का साधक नहीं है, और मैं कहूँगा कि वह कवि नहीं है, न होगा।

मैं ने लिखा था कि कविता 'किसी की किसी पर' अभिव्यक्ति है। कवि का अर्थ गृहीता पर घटित होता है। इस 'पर' में एक परस्परता है, एक सामाजिक अनुबन्ध है। मैं जानता हूँ कि मेरी कविता के पाठक बहुत अधिक नहीं रहे हैं; काव्य पढ़ने वाले अल्पसंख्य ही रहे हैं। लेकिन मेरा विश्वास है कि उस का प्रभाव रहा है क्योंकि वह जिस के द्वारा पढ़ी गयी है उस पर घटित हुई है। यह प्रतिक्रिया सर्वदा अनुकूल ही हुई है ऐसा नहीं है; पर जहाँ प्रतिकूल भी हुई वहाँ घटित तो अवश्य हुई। काव्य जिसे छुए, उसे परचाये ही, मुग्ध ही करे, ऐसी कोई अनिवार्यता मैं उसे नहीं उढ़ाता; वह जिसे छुए उसे बदल दे, इसी में उस की सफलता है; चाहे उस बदले जाने में गृहीता का विरोधभाव भी जागे।

प्रेम और यौन वर्जनाओं के विषय में जो कुछ कहा था उस में, उस समय, कदाचित् कुछ सफ़ाई देने का भी भाव मन में था। अब वह नहीं है। इस लिए नहीं कि अब साधारण व्यक्ति के बारे में धारणा बदल गयी है। मैं अब भी कह सकता हूँ, क्योंकि देखता हूँ कि "आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है।" मैं समझता हूँ कि परवर्ती हिन्दी काव्य में इस के पर्याप्त उदाहरण मिल जायेंगे। वर्जनाएँ और ग्रन्थियाँ न समाज के उपरले स्तरों में उतनी जटिल होती हैं न निचले स्तरों में जितनी कि बीच के अधिभाग में। इस का कारण सीधा है—दोनों छोरों पर स्वच्छन्दता अधिक होती है, यद्यपि भिन्न-भिन्न कारणों से। अभिजात वर्ग संस्कृत है क्योंकि संस्कारों में मँजा हुआ है, साथ ही सुविधा-सम्पन्न भी है; इस लिए उस में वैसा दमित तनाव नहीं है। दूसरे छोर पर लोक-वर्ग भी संस्कृत है क्योंकि लोक-संस्कृति की सहजता में पला है; जहाँ उसे सुविधाएँ नहीं मिलतीं वहाँ यथार्थ से सम्बन्धों की सहजता ही उसे स्वस्थ रखती है—दमित तनाव वहाँ भी नहीं होते। बीच का तबका ही सब से अधिक रूढ़ि-ग्रस्त होता है क्योंकि वही सामाजिक मर्यादाओं का निर्वाह करने और कराने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ओढ़ लेता है। उस की साक्षरता और यत्किंचित् शिक्षा उसे वह संस्कारिता नहीं देती जिस में या तो मँजाव या सहज स्वीकार उसे स्वस्थ रखे। और ऐति-

हासिक दृष्टि से यह बात सही है कि हिन्दी का कृतित्व समाज के दोनों छोरों से हटता हुआ मध्य की ओर आ रहा है। आज का कवि न अभिजात वर्ग का है न ही उन निचले स्तरों का जिन से सच्चा लोक-कवि आता या आयेगा। संस्कृति की नदी में वह न तो मँझधार में है जहाँ प्रवाह तीव्र हो और सब कुछ अनुक्षण बदलता रहे, न किनारे पर जहाँ ठहराव है और निश्चल जल तलदर्शी हो गया है। वह दोनों के बीच में वहीं है, जहाँ भँवर हैं, दह हैं, छिछली रेतियां हैं, जहाँ-तहाँ उलटी धारा भी है। साधारण भाषा में वह मध्य-वित्तीय वर्ग का प्राणी है; और भारतीय समाज-संगठन में अभी तक तो यही मध्य-वित्तीय वर्ग—जिस में अधिसंख्य वेतनभोगी, छोटे व्यवसायी या खाते-पीते भूमिदार आदि सभी हैं—समाज की रीढ़ है। हिन्दी साहित्य में पिछले बीस वर्ष क्यों, पचास वर्षों में जितनी नयी प्रवृत्तियाँ लक्षित हुई हैं सब के मूल में यही सामाजिक संचरण है। हम जो देखते रहे हैं वह संस्कृति का निथुरना और विकसना नहीं, रूढ़ि की ऐंठन और टूटन ही अधिक रही है। मेरा विश्वास है कि नयी संस्कृति आयेगी; जब वह आयेगी तब उस का सांस्कृतिक परम्परा से सम्बन्ध भी न केवल होगा बल्कि लक्ष्य होगा, जीवन में स्पन्दित होगा। पर अभी? अभी तक का दर्द नयी संस्कृति के आविर्भाव का नहीं, पुरानी की जकड़ का या उस की टूटन का ही दर्द है। अभी तो देखता हूँ कि अभी तक, सन् १९६३ में भी, नया आलोचक ही नहीं, नया कवि तक 'रूढ़ि' और 'परम्परा' को पर्यायवाची मान लेता है, जब कि एक निरा जाड्य है और दूसरा एक ऐतिहासिक सम्बन्ध।

यही कारण है कि सफ़ाई देने का भाव मेरे मन में अब नहीं है: जो बात मैं ने कही थी सामाजिक परिवर्तन का प्रवाह उसे प्रमाणित कर रहा है। लेकिन जहाँ सफ़ाई देने का भाव मन में नहीं है, वहाँ वह बात कहने का आग्रह भी अपने में नहीं पाता हूँ। शायद यह केवल प्रौढ़ वय का प्रभाव है; शायद यह भी है कि जीवनानुभव ने एक स्वस्थतर चेतना दी है जिस में कुछ गुत्थियाँ अपने-आप सुलझ गयी हैं। यदि प्रेम आज भी "विश्वास की निष्कम्प अवस्था से कुछ नीचे" है तो कहूँ कि कुछ ही नीचे है, अधिक नहीं। और उतना नीचे भी किसी आत्यन्तिक निर्बलता या असमर्थता के कारण नहीं, बल्कि इस लिए कि उस से ऊपर जो प्रेम होता है वह मानवीय नहीं होता, केवल देवता के प्रति हो सकता है।

ओट थोड़ी बने रहना ही भला है—
देवता से,
और अपने-आप से ।
....

देवता का नाम यों ही नहीं लूँगा :
पर जो दूसरा होता—स्वयं मैं—
सदा मैं ने यही पाया है कि वह तुम हो :
....

साँस,
स्पन्दन,
ध्यान
और मेरा मुग्ध यह स्वीकार,
सब (उस अजाने या अनामा देवता के वाद)
तुम्हारे हैं ।

स्पष्ट ही, आस्था की समस्या मुझे नहीं सताती है । न ही मुझे लगता है कि मैं, या मेरी कविता, किसी 'सनातन सूर्योदय' से वंचित है । यह अकारण नहीं है कि हम नित्य का प्रयोग दुहरे अर्थ में करते हैं : जो सदैव है और रहेगा वह भी नित्य है, और जो निरन्तर बदलता जाता है वह भी नित्य नया है । 'अनित्य' वही है जो एक बार बदल कर फिर नहीं बदलता । काल के साथ हमारा सनातन काल से दुहरा सम्बन्ध रहा है : यह भारत की परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है । जहाँ यह दुहरा बोध नहीं है, वहाँ 'युगबोध' भी नहीं है, और शाश्वत का बोध भी नहीं है ।

अन्त में केवल एक बात—और वह कहनी नहीं, दुहरानी है । वह यह कि "मेरी बात आप अनुग्रहपूर्वक सुन तो लीजिए, पर मानिए मत—मानिए उसी को, विश्वास उसी का कीजिए, जो आप को मेरी कविता में मिले । वह कविता चाहे इस संकलन की हो, चाहे अन्यत्र प्रकाशित ।"

—'अज्ञेय'

उषा-दर्शन

मैं ने कहा—
डूब, चाँद !
रात को सिहरने दे
कुइँयों को मरने दे
आक्षितिज तम फैल जाने दे !
पर तम
थमा और मुझी में जम गया।
मैं ने कहा—
उठ री लजीली भोर-रश्मि, सोयी
दुनिया में तुझे कोई
देखे मत, मेरे भीतर समा जा तू
चुपके से मेरी यह हिमाहत
नलिनी खिला जा तू।

वो प्रगल्भा मानमयी
बावली-सी उठ सारी दुनिया में फैल गयी !

—'बावरा अहेरी' (१९५४) से

मैं वहाँ हूँ

दूर दूर दूर....मैं वहाँ हूँ !
यह नहीं कि मैं भागता हूँ :
मैं सेतु हूँ—
जो है और जो होगा दोनों को मिलाता हूँ—
मैं हूँ, मैं यहाँ हूँ,
पर सेतु हूँ इस लिए
        दूर दूर दूर...मैं वहाँ हूँ !

यह जो मिट्टी गोड़ता है,
कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है,
        उस की मैं साधना हूँ :
यह जो गिट्टी फोड़ता है,
मड़िया में रहता है और महलों को बनाता है
        उस की मैं आस्था हूँ ।

यह जो कज्जल-पुता खानों में उतरता है
पर चमाचम विमानों को आकाश में उड़ाता है,
यह जो नंगे बदन, दम साध, पानी में उतरता है
और बाज़ार के लिए पानीदार मोती निकाल लाता है,
यह जो क़लम घिसता है
चाकरी करता है पर सरकार को चलाता है
        उस की मैं व्यथा हूँ ।

यह जो कचरा ढोता है,
यह जो झल्ली लिये फिरता है और बेघरा घूरे पर सोता है,
यह जो गदहे हांकता है,
यह जो तन्दूर झोंकता है,

यह जो कीचड़ उलीचती है,
यह जो मनियार सजाती है,
यह जो कन्धे पर चूड़ियों की पोटली लिये
गली-गली झाँकती है,
यह जो दूसरों का उतारन फींचती है,
यह जो रद्दी बटोरता है
यह जो पापड़ बेलता है, बीड़ी लपेटता है, वर्क़ कूटता है,
धौंकनी फूँकता है, कलई गलाता है, रेढ़ी ठेलता है,
चौक लीपता है, बासन माँजता है, ईंटें उछालता है,
रुई धुनता है, गारा सानता है, खटिया बुनता है,
मशक से सड़क सींचता है,
रिक्शा में अपना प्रतिरूप लादे खींचता है,
जो भी जहाँ भी पिसता है
पर हारता नहीं, न मरता है—
पीड़ित श्रमरत मानव
अविजित दुर्जेय मानव
कमकर, श्रमकर, शिल्पी, स्रष्टा
उस की मैं कथा हूँ।

दूर दूर दूर····मैं वहाँ हूँ—
यह नहीं कि मैं भागता हूँ :
मैं सेतु हूँ—
जो है और जो होगा, दोनों को मिलाता हूँ—
पर सेतु हूँ इस लिए
दूर दूर दूर····मैं वहाँ हूँ।

किन्तु मैं वहाँ हूँ
तो ऐसा नहीं है कि मैं यहाँ नहीं हूँ।
मैं दूर हूँ, जो है और जो होगा उस के बीच सेतु हूँ
तो ऐसा नहीं है कि जो है उसे मैं ने स्वीकार कर लिया है।
मैं आस्था हूँ

तो मैं निरन्तर उठते रहने को शक्ति हूँ :
मैं व्यथा हूँ
तो मैं मुक्ति का श्वास हूँ,
मैं गाथा हूँ
तो मैं मानव का अलिखित इतिहास हूँ,
मैं साधना हूँ,
तो मैं प्रयत्न में कभी शिथिल न होने का निश्चय हूँ,
मैं संघर्ष हूँ जिसे विश्राम नहीं,
जो है मैं उसे बदलता हूँ,
जो होगा उसे मुझे ही तो लाना है।
जो मेरा कर्म है, उस में मुझे संशय का नाम नहीं,
वह मेरा अपनी साँस-सा पहचाना है;
लेकिन घृणा—घृणा से मुझे काम नहीं
क्यों कि मैं ने डर नहीं जाना है।
मैं अभय हूँ,
मैं भक्ति हूँ,
मैं जय हूँ।

दूर दूर दूर····मैं सेतु हूँ
किन्तु शून्य से शून्य तक का सतरंगी सेतु नहीं,
वह सेतु
जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है,
जो हृदय से हृदय को
श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को
कल्पना के पंख से कल्पना के पंख को
विवेक की किरण से विवेक की किरण को
अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता है,
जो मानव को एक करता है,
समूह का अनुभव जिस की मेहरावें हैं
और जन-जीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी जिस के
नीचे से बहती है

मुड़ती, बल खाती,
नये मार्ग फोड़ती,
नये करारे तोड़ती,
चिर परिवर्तनशीला, सागर की ओर जाती, जाती, जाती····
मैं वहाँ हूँ—दूर, दूर दूर !

—'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' (१९५७) से

सवेरे उठा तो

सवेरे उठा तो धूप खिल कर छा गयी थी
और एक चिड़िया अभी-अभी गा गयी थी।

मैं ने धूप से कहा : मुझे थोड़ी गरमाई दोगी—उधार ?
चिड़िया से कहा : थोड़ी मिठास उधार दोगी ?
मैं ने घास की पत्ती से पूछा : तनिक हरियाली दोगी—
तिनके की नोक-भर ?
शंखपुष्पी से पूछा : उजास दोगी—
किरण की ओक-भर ?
मैं ने हवा से माँगा : थोड़ा खुलापन–बस एक प्रश्वास;
लहर से : एक रोम की सिहरान-भर उल्लास।
मैं ने आकाश से माँगी
आँख की झपकी-भर असीमता—उधार।

सब से उधार माँगा, सब ने दिया।
यों मैं जिया और जीता हूँ
क्योंकि यही सब तो है जीवन—
गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला,
गन्धवाही मुक्त खुलापन;
लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह,
और बोध भव्य
निर्व्यास निस्सीम का :
ये सब उधार पाये हुए द्रव्य !

२

रात के अकेले अन्धकार में
सपने से जाना जिस में
एक अनदेखे अरूप ने पुकार कर
मुझ से पूछा था : 'क्यों जी,
तुम्हारे इस जीवन के
इतने विविध अनुभव हैं
इतने तुम धनी हो,
तो मुझे थोड़ा प्यार दोगे उधार जिसे मैं
सौ गुने सूद के साथ लौटाऊँगा—
और वह भी सौ-सौ बार गिन के
जब जब मैं आऊँगा ?

मैं ने कहा : प्यार ? उधार ?
स्वर अचकचाया था, क्योंकि मेरे
अनुभव से परे था ऐसा व्यवहार।

उस अनदेखे अरूप ने कहा : हाँ,
क्योंकि ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं—
यह अकेलापन, यह अकुलाहट,
यह असमंजस, अचकचाहट, आर्त अननुभव,
यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय विरह-व्यथा,
यह अन्धकार में जाग कर सहसा पहचानना कि
जो मेरा है वही ममेतर है—
यह सब तुम्हारे पास है
तो थोड़ा मुझे दे दो—उधार—इस एक बार-
मुझे जो चरम आवश्यकता है!'

उस ने यह कहा,
पर रात के घुप अँधेरे में

मैं सहमा हुआ चुप रहा; अभी तक मौन हूँ :
अनदेखे अरूप को
उधार देते मैं डरता हूँ :
क्या जाने
यह याचक कौन है !

—(१९६१)

६५८४
डा. सिल्मी रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
हैदराबाद

• • •

डा. सिल्मी रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
हैदराबाद

८९१.४३१
अ८६ ता

पुस्तककी इसी समकालीन अर्थवत्ताकी पुष्टिके लिए प्रस्तुत संस्करणको एक नया संवर्द्धित रूप देनेका प्रयत्न किया गया है। पूर्वऐतिहासिक रूपकी रक्षा करते हुए जहाँ पहलेकी सब सामग्री अविकल दी गयी है, वहाँ प्रत्येक कविकी परवर्ती प्रवृत्तियोंपर उसका वक्तव्य और कुछ नयी प्रतिनिधि रचनाएँ भी इसमें सम्मिलित हैं।

समकालीन काव्य-इतिहासमें 'तार सप्तक'ने अपना जो स्थान पाया और जिस अर्थ और भावमें उसका प्रभाव परवर्ती काव्य-विकासमें व्याप्त है, उसके व्यक्त और अव्यक्त इतिहासको प्रस्तुत प्रकाशन रेखांकित करता है। प्रत्येक संग्रहालयके लिए आवश्यक, प्रत्येक समकालीन हिन्दी काव्यके अध्येता एवं जिज्ञासुके लिए अनिवार्य।

●

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य
ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्रीका
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक-साहित्यका निर्माण

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५